सामाजिक विज्ञान

भाग - 1

कक्षा 10 के लिए इतिहास की पाठ्यपुस्तक

अर्जुन देव

एन सी ई आर टी
NCERT

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संशोधित संस्करण

ISBN : 81-7450-372-2

अप्रैल 1994 : वैशाख 1916 (सभ्यता की कहानी : भाग-2)

आठवां पुनर्मुद्रण

जून 2002 : आषाढ़ 1924

नौवां पुनर्मुद्रण

मार्च 2005 चैत्र 1927 (सामाजिक विज्ञान : भाग-2)

PD 125T + 25T + 45T SC

एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन विभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस श्री अरविंद मार्ग नई दिल्ली 110 016	108, 100 फीट रोड हेली एक्सटेंशन, होस्डेकेरे बनाशंकरी III इस्टेज बैंगलूर 560 085	नवजीवन ट्रस्ट भवन डाकघर नवजीवन अहमदाबाद 380 014	सी.डब्ल्यू.सी. कैंपस निकट: धनकल बस स्टॉप पनिहटी कोलकाता 700 114	सी.डब्ल्यू.सी. कॉम्प्लैक्स मालीगांव गुवाहाटी 781021

प्रकाशन सहयोग

संपादन शशि चड्डा

उत्पादन अरूण चितकारा

आवरण

अमित श्रीवास्तव

रु. 20.00

एन.सी.ई.आर.टी. वाटर मार्क 70 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित।

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविन्द मार्ग, नई दिल्ली 110 016 द्वारा प्रकाशित तथा अजय ऑफसेट, ए-55, नारायणा इंडस्ट्रियल एरिया, फेस -1, नई दिल्ली 110 028 द्वारा मुद्रित।

प्रकाशक की टिप्पणी

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् (एन.सी.ई.आर.टी.) बच्चों और शिक्षकों के लिए विद्यालयी पाठ्यपुस्तकें और अन्य शैक्षिक सामग्री तैयार तथा प्रकाशित करती रही है। ये प्रकाशन विद्यार्थियों, शिक्षकों, अभिभावकों और शिक्षक-प्रशिक्षकों से प्राप्त पुनर्निवेशन के आधार पर नियमित रूप से संशोधित किए जाते हैं। एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा किए गए शोध-कार्य भी इस पाठ्य सामग्री के संशोधन व उसे अद्यतन बनाने का आधार होते हैं।

यह पुस्तक विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा और इसके अनुरूप तैयार किए गए पाठ्यक्रम पर आधारित है। मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने इतिहास की पुस्तकों के पुनरीक्षण के लिए इतिहासकारों की एक समिति का गठन किया। इस समिति की अनुशंसा को ध्यान में रखते हुए एन.सी.ई.आर.टी. की कार्यकारिणी समिति ने 19 जुलाई 2004 को आयोजित बैठक में यह निर्णय लिया कि अकादमिक सत्र 2005-2006 में इतिहास की पुरानी पुस्तकें कुछ संशोधनों के साथ इस प्रकार वापस लाई जाएं, ताकि वे वर्तमान पाठ्यक्रम से संगत हो सकें। अन्य विषयों की पाठ्यपुस्तकों के परीक्षण के लिए त्वरित समीक्षा समितियों का भी गठन किया गया। इस निर्णय का अनुपालन करते हुए इतिहास की पुरानी पाठ्यपुस्तक *सभ्यता की कहानी भाग-2* के 14-16 अध्याय कुछ आवश्यक संशोधनों के साथ प्रस्तुत है। यह पुस्तक *सामाजिक विज्ञान भाग-1* के रूप में प्रकाशित की गई है, जो सामाजिक विज्ञान के संशोधित पाठ्यक्रम की इकाई-IV के अनुरूप है। हमें आशा है कि पुस्तक का यह संशोधित संस्करण शिक्षण व अधिगम का प्रभावी माध्यम सिद्ध होगा। इस पाठ्यपुस्तक की गुणवत्ता में और अधिक सुधार के लिए हमें आपके सुझावों की प्रतीक्षा रहेगी।

सचिव
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान
और प्रशिक्षण परिषद्

नई दिल्ली
जनवरी 2005

भारत का संविधान

उद्देशिका

हम, भारत के लोग, भारत को एक **संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न, समाजवादी, पंथ-निरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक गणराज्य** बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को:

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक **न्याय;**

विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म
और उपासना की **स्वतंत्रता;**

प्रतिष्ठा और अवसर की **समता**
प्राप्त कराने के लिए

तथा उन **सब में** व्यक्ति की गरिमा और **राष्ट्र की एकता और अखंडता सुनिश्चित** करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए;

दृढ़संकल्प होकर **अपनी इस संविधान सभा में** आज तारीख 26 नवंबर, 1949 ई. (मिति मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, संवत् दो हज़ार छह विक्रमी) को **एतदद्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।**

विषय-सूची

भारत का संविधान

भाग 4क

नागरिकों के मूल कर्तव्य

अनुच्छेद 51 क

मूल कर्तव्य - भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह -

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे;

(ख) स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे;

(ग) भारत की संप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे;

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे;

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभावों से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो महिलाओं के सम्मान के विरुद्ध हों;

(च) हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे;

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उसका संवर्धन करे तथा प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखे;

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे;

(झ) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे;

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत् प्रयास करे, जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊँचाइयों को छू सके; और

(ट) यदि माता-पिता या संरक्षक है, छह वर्ष से चौदह वर्ष तक की आयु वाले अपने, यथास्थिति, बालक या प्रतिपाल्य को शिक्षा के अवसर प्रदान करे।

अध्याय 1

भारत की सांस्कृतिक विरासत

भारत की विरासत भारतीय जनता के हजारों वर्षों के इतिहास के दौरान उनके सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन में हुए विकास का परिणाम है। इस विकास के बारे में आप संक्षेप में पहले पढ़ चुके हैं। इस अध्याय में आप इस विकास की कुछ ऐसी विशेषताओं और पहलुओं का अध्ययन करेंगे जो भारत की विरासत को समझने के लिए महत्वपूर्ण हैं।

देश और उसके निवासी

इस विरासत की रूपरेखा निर्धारित करने वाले दो तत्व हैं– भारत की धरती, उसका प्राकृतिक, भौतिक पर्यावरण और इस धरती पर बसने वाले लोग। भारतीय इतिहास के विभिन्न कालों में यहाँ बसे लोगों की पीढ़ी-दर-पीढ़ी की इस प्राकृतिक और भौतिक पर्यावरण से अंत:क्रिया होती रही है। उनकी अंत:क्रिया आपस में भी चलती रही है। अंत:क्रिया की इस दोहरी प्रक्रिया – प्राकृतिक और भौतिक पर्यावरण के साथ अंत:क्रिया और आपस में अंत:क्रिया–के दौरान ही जनता ने अपने इतिहास, अपने सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन की बुनियाद डाली है। अंत:क्रिया की ये प्रक्रियाएँ हजारों वर्षों से चलती रही हैं और जनता के जीवन में परिवर्तन लाती रही हैं। इस तरह मानव का जीवन कभी स्थिर नहीं रहा है।

भारत एक विशाल देश है। उत्तर में स्थित कश्मीर से दक्षिण में स्थित कन्याकुमारी तक इसकी लंबाई लगभग 3000 किलोमीटर है। एकदम पश्चिमी भाग से पूर्वी भाग दूसरे छोर तक इसकी चौड़ाई भी लगभग इतनी ही है। प्रकृति ने इसे विशिष्ट भौगोलिक इकाई बनाया है। उत्तर में हिमालय की श्रेणियों और पूर्व, दक्षिण और पश्चिम में समुद्र के होने के कारण यह शेष विश्व से अलग रहा है। सदियों से इस देश में रहते आए लोग और विदेशी भी इसे एक विशिष्ट इकाई मानते आए हैं।

ये भौगोलिक विशेषताएँ भारत को शेष विश्व से अलग एक सुस्पष्ट इकाई बनाती हैं, परंतु ये विशेषताएँ भारत को शेष विश्व से भारत के संपर्क में कभी बाधक नहीं रही हैं। प्राचीन पाषाण युग से ही पास और दूर के क्षेत्रों के लोग हिमालय के दर्रों से होकर या समुद्र के रास्ते यहाँ आते रहे और यहीं बसते रहे। भारत की जनता हजारों वर्षों से यहाँ आने वाले लोगों की ही संतान है। हमारी जनता यहाँ आकर बसने वाली सभी नस्लों और उनसे बनी मिश्रित नस्लों की ही वंशज हैं। भारत की जनसंख्या का निर्माण जिन प्रमुख नस्लों के लोगों के मिश्रण से हुआ है, वे इस प्रकार हैं प्रोटो, ओस्ट्रेलायड, पैलियों मेडिटेरेनियन, काकेशयड, निग्रोयड और मंगोलायड। ऐतिहासिक काल में अनेक नृजातीय समूहों (एथनिक ग्रुप्स) के लोग यहाँ आए और यहीं बस गए। इनमें इंडो-यूरोपीय भाषाएँ बोलने वाले इंडो-आर्यन, ईरानी, यूनानी, कुषाण, शक, हूण, अरब, तुर्क, अफ्रीकी और मंगोल शामिल हैं। पिछले कुछ सौ वर्षों में अनेक यूरोपीय भी भारत में बस गए। इन सभी नस्लों और नृजातीय समूहों का खून आपस में मिलता रहा है और शायद ही कोई समूह अपने मूल रूप में यहाँ रह गया है। इस तरह भारत विभिन्न "नस्लों" और नृजातीय समूहों का संगम रहा है।

विभिन्न जाति के लोगों का भारत में आगमन प्रागैतिहासिक काल से ही उनकी जीवन-प्रणाली और

संस्कृति के विभिन्न पक्षों को निर्धारित करने वाला प्रमुख कारण रहा है। ऐतिहासिक काल में भारतीय इतिहास के लगभग हर दौर में इसमें इसके प्रभाव को स्पष्ट देखा जा सकता है। दूसरी संस्कृतियों और सभ्यताओं के लोग यहाँ अपनी-अपनी परम्पराएँ लेकर आते रहे और इन परंपराओं का पहले से मौजूद परंपराओं से मेल और समन्वय होता रहा है। इसी तरह भारत के लोग भी दुनिया के दूसरे भागों में जाते रहे हैं और जो सांस्कृतिक परंपराएँ वे अपने साथ ले गए, वे वहाँ की परंपराओं से मिलती और समन्वित होती रही हैं। पिछले 2000 वर्षों में भारतीय संस्कृति के विभिन्न तत्व एशिया के दूसरे देशों मे स्पष्ट देखे जा सकते हैं।

देश की विशालता और उसके विभिन्न भागों के बीच भूमि के रूपों, प्राकृतिक संसाधनों, जलवायु और ऐसी ही दूसरी भौगोलिक विशेषताओं संबंधी अंतरों के कारण बहुत पहले से ही यहाँ तरह-तरह की जीवन प्रणालियाँ पाई जाती रही हैं। देश में सुस्पष्ट सांस्कृतिक क्षेत्रों के निर्माण में पर्वतमालाएँ और नदी प्रणालियाँ एक महत्वपूर्ण कारण रही हैं। उदाहरण के लिए विंध्य की पर्वत-शृंखला देश को उत्तर और दक्षिण, दो भागों में बाँटती है। उत्तर में इंडो-यूरोपीय परिवार की भाषाएँ बोलने वालों और दक्षिण मे द्रविड़ परिवार की भाषाएँ बोलने वालों का बहुमत है। फिर भी इन कारणों से देश का कोई भी भाग दूसरों से एकदम कटा हुआ नहीं रहा है। प्राचीन काल में यातायात के साधन बहुत विकसित न थे, मगर तब भी विभिन्न क्षेत्रों के बीच ऐसी अनुलंघनीय भौतिक बाधाएँ नहीं रही हैं और देश के विभिन्न भागों के बीच लोगों का आना-जाना कभी रुका नहीं। उदाहरण के लिए, विंध्य की पर्वत-शृंखला के होने के बावजूद बहुत पहले से ही उत्तर के लोग दक्षिण और दक्षिण वाले उत्तर की ओर आते-जाते रहे हैं। इस तरह भौतिक कारणों से देश के विभिन्न भागों में जीवन प्रणालियों का उदय तो हुआ है, मगर विभिन्न भागों के लोगों के बीच अंतःक्रिया चलती ही रही है। देश के विभिन्न भागों में अलग-अलग प्राकृतिक संसाधन रहे हैं इससे देश में एकता और विविधता, दोनों रही हैं। देश के ऐतिहासिक विकास के कारण विभिन्न भागों के लोग करीब आए हैं और साझी संस्कृति का निर्माण हुआ है। साथ ही, देश के हर भाग की एक अलग और खास पहचान भी विकसित हुई है। इसी कारण भारत के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विकास को अक्सर "विविधता में एकता" की संज्ञा दी जाती है। देश की संस्कृति एक समन्वित संस्कृति है, जिसमें विभिन्न प्रका के तत्व पाए जाते हैं। यह संस्कृति कभी भी एकरस नहीं रही।

कहा जा चुका है कि इस साझी संस्कृति के विकास में देश के सभी लोगों का योगदान रहा है। देश का कोई भी एक भाग या क्षेत्र भारतीय संस्कृति का एक मात्र स्रोत या केंद्र नहीं रहा। विभिन्न कालों में विभिन्न क्षेत्रों की अग्रणी भूमिका रही है और वहाँ से उत्पन्न नई प्रवृत्तियों ने उस काल में देश के दूसरे भागों के विकास को प्रभावित किया है। यह बात राजनीतिक इतिहास के बारे में उतनी ही सच है जितनी ऐतिहासिक विकास के दूसरे पहलुओं के लिए। देश की पहली प्रमुख राजनीतिक शक्ति का उदय उत्तरी भारत में हुआ और आज के पटना के पास का क्षेत्र इसका केंद्र था। बाद की सदियों में पश्चिमोत्तर भारत, दक्कन और दक्षिण में भी शक्तिशाली राज्यों और साम्राज्यों का उदय हुआ। तुर्क सुलतान और मुग़ल साम्राज्य जब देश के एक बड़े हिस्से पर शासन कर रहे थे तो उनका केंद्र दिल्ली और कुछ समय तक आगरा रहा है। 18वीं सदी में पश्चिमी भारत में अपना राज्य स्थापित करने के बाद मराठों ने एक शक्तिशाली अखिल-भारतीय साम्राज्य का भी निर्माण किया। इस संदर्भ में यह बात याद रखनी आवश्यक है कि भारत में बहुत प्राचीन काल में ही चक्रवर्ती सम्राट की धारणा का विकास हुआ था। इस धारणा में पूरे देश के राजनीतिक एकीकरण की कल्पना की गई थी।

भारत की संस्कृति की एक और विशेषता यह रही है कि कभी भी यह जड़ नहीं बनी। भारत के लंबे इतिहास के दौरान उसकी संस्कृति आंतरिक कारणों और दूसरी संस्कृतियों के संपर्क के कारण लगातार परिवर्तित और विकसित होती रही है। वैसे भी भारत या किसी दूसरे देश की संस्कृति कोई जड़ वस्तु नहीं है। संस्कृति के वे पक्ष जो प्रगति में बाधक बनते हैं, नष्ट हो जाते हैं; कुछ पक्ष इतने बदल जाते हैं कि पहचाने नहीं जा सकते, कुछ तत्व जीवित रहते और महत्वपूर्ण बने रहते हैं; और अनेक नए तत्व

उस संस्कृतिक में जुड़ते चले जाते हैं।

निरंतरता भारतीय इतिहास और संस्कृति के विकास की एक उल्लेखनीय विशेषता रही है। दूसरी सभ्यताओं के इतिहास में निरंतरता की ऐसी मिसालें कम ही मिलती हैं। उदाहरण के लिए कुछ देशों में उनकी आरंभिक सभ्यताओं का प्रभाव उनकी बाद की संस्कृति पर बहुत दिखाई नहीं देता। भारत में हड़प्पा संस्कृति के कर्मकांड के कुछ तत्व अभी भी पाए जाते हैं, हालाँकि नगरीय जीवन संबंधी उसकी अनेक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ भुला दी गईं।

अपने देश के नाम की भी एक दिलचस्प कहानी है। प्राचीन भारतीय अपने देश को जम्बूदीप, अर्थात जंबू (जामुन) वृक्षों का द्वीप कहते थे। प्राचीन ईरानी इसे सिंधु नदी के नाम से जोड़ते थे, जिसे वे सिंधु न कहकर "हिंदू" कहते थे। यही नाम फिर पूरे पश्चिम में फैल गया और पूरे देश को इसी एक नदी के नाम से जाना जाने लगा। यूनानी इसे "इंदे" और अरब इसे "हिंद" कहते थे। मध्यकाल में इस देश को "हिंदुस्तान" कहा जाने लगा। यह शब्द भी फारसी शब्द "हिंदू" से बना है। यूनानी भाषा के "इंदे" के आधार पर अंग्रेज इसे "इंडिया" कहने लगे। देश का वर्तमान नाम "भारत" भी प्राचीन काल से प्रचलित रहा है। इसका अर्थ है भरतों का देश। भरत एक प्राचीन कबीले का नाम था।

भारतीय संस्कृति के कुछ चुनिंदा पहलुओं के विकास का अध्ययन करने से पहले बेहतर यह होगा कि हम भारत के ऐतिहासिक विकास की प्रमुख बातों का एक जायजा ले लें।

प्राचीन काल

पीछे एक अध्याय में आप पढ़ चुके हैं कि भारत प्रागैतिहासिक संस्कृतियों के प्राचीनतम केंद्रों में एक रहा है। भारत हड़प्पा संस्कृति का पालना भी रहा है जो प्राचीनतम सभ्यताओं में से एक है। हड़प्पा संस्कृति भारत में उभरने वाली पहली नगरीय संस्कृति थी। अपनी अनेक विशेषताओं के कारण यह दुनिया के विभिन्न भागों में मौजूद सभी संस्कृतियों से भिन्न भारतीय सभ्यता थी। यह अपनी समकालीन सभी सभ्यताओं से कहीं अधिक विस्तृत थी और इसके केंद्र ब्लूचिस्तान, सिंध, पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और गुजरात में थे। भारत के दूसरे भागों तथा पश्चिमी एशिया की समकालीन सभ्यताओं से भी इसके संपर्क थे। इसके पतन के बाद कोई एक हजार वर्षों तक भारत में नगरों का उदय नहीं हुआ। फिर भी इस सभ्यता की देन पूरी तरह नहीं भुला दी गई और इसकी अनेक विशेषताएँ आगे चलकर भारतीय संस्कृति का अंग बनी रहीं।

प्राचीन भारतीय इतिहास का दूसरा प्रमुख काल है – वैदिक युग। इसका आरंभ इंडो-यूरोपीय भाषी लोगों (आर्यों) के आगमन से हुआ और यह युग ईसा पूर्व सातवीं सदी तक जारी रहा। आरंभ में इस काल में कुछ बातों में पिछड़ापन आया। उदाहरण के लिए, इस युग में नगरीय जीवन समाप्त हो गया, मुख्यतः पशुपालन और कृषि पर आधारित अर्थव्यवस्था और कबीलाई राजनीतिक प्रणाली स्थापित हुई। मगर लौह प्रौद्योगिकी के ज्ञान एवं उपयोग के कारण पूरे देश में कृषि का प्रसार आरंभ हुआ। इस तरह वैदिक युग के बाद देश के सभी भागों में सभ्यता की नींव पड़ी जबकि हड़प्पा की संस्कृति पश्चिमोत्तर भारत के कुछेक भागों तक सीमित रही थी। इस युग में विकसित होने वाली संस्कृति भारत के प्राचीन निवासियों के साथ आर्यों के मेल का परिणाम थी। यह जानना दिलचस्प होगा कि इस काल की संस्कृति के कुछ तत्व 3000 वर्षों के बाद भी जीवित हैं और आज की भारतीय संस्कृति के अंग हैं।

छठी सदी ईसा-पूर्व से 200 ईसा-पूर्व तक के काल में देश के जीवन के लगभग सभी पक्षों में दूरगामी परिवर्तन आए। इस काल में कृषि का देश में दूर-दूर तक प्रसार हुआ, नगरों का विकास हुआ और राज्य व्यवस्था की स्थापना हुई। इस काल में भारतीय इतिहास के पहले साम्राज्य का उत्थान और पतन भी हुआ। राजनीतिक एकता ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक एकता की दृष्टि से भी यह काल महत्त्वपूर्ण है। छठी सदी ईसा-पूर्व में जन्मे दो प्रमुख धर्मों—जैन धर्म और बौद्ध धर्म—का भारत की जीवन-प्रणाली और संस्कृति पर स्थायी प्रभाव पड़ा। इन धर्मों का उन धार्मिक विश्वासों और कर्मकांडों पर भी प्रभाव पड़ा, जिन्हें हम कुल मिलाकर हिंदू धर्म कहते हैं। हिंदू धर्म का विकास इस प्रकार हुआ था कि उसमें वैदिक युग के अनेक विश्वास और कर्मकांड शामिल थे मगर अनेक विश्वास और कर्मकांड ऐसे भी थे जो वैदिक धर्म से भिन्न थे। इस काल में वैदिक धर्म समेत हिंदू

धर्म के विश्वासों और कर्मकांडों का और बौद्ध धर्म और जैन धर्म का भी पूरे देश में प्रसार हुआ। साथ ही अनेक दूसरे विश्वास और कर्मकांड भी जारी रहे। चार वर्णों पर आधारित सामाजिक व्यवस्था जिसकी वैदिक युग में शुरुआत हुई थी, अब सुदृढ़ हो गई और धीरे-धीरे पूरे देश की प्रमुख सामाजिक व्यवस्था बन गई। यह सामाजिक व्यवस्था एक विशिष्ट भारतीय व्यवस्था है। नगरों, हस्तकलाओं और व्यापार के विकास से सांस्कृतिक एकीकरण की प्रक्रिया भी आगे बढ़ी। इस प्रक्रिया का सबसे अच्छा उदाहरण अशोक है। पूरे देश का एक साम्राज्य के रूप में उसने एकीकरण किया मगर राज्य संचालन की नीति से युद्ध नामक वस्तु को निकाल बाहर किया। इसकी बजाए, उसने धर्म की विजय को वास्तविक विजय बतलाया। अशोक हमें एक आदर्श राजा के रूप में दिखाई देता है। राजा को तब निरंकुश सत्ता का प्रतीक समझा जाता था। इसके विपरीत अशोक ने अपने एक शिलालेख में घोषणा की, " मैं जो कुछ भी करता हूँ वह उस ऋण का भुगतान करने का प्रयास है जिसका मैं सभी सजीव प्राणियों के प्रति देनदार हूँ।'' देश के विभिन्न भागों में पाए जाने वाले उसके अधिकांश शिलालेख प्राकृत भाषा में हैं जो लगता है कि तब तक देश की संपर्क भाषा बन चुकी थी। इन शिलालेखों की लिपि ब्राह्मी है, जो प्राचीनतम ज्ञात भारतीय लिपि है और बाद की अधिकांश भारतीय लिपियों का उद्गम है। मगर जिन क्षेत्रों में कोई और भाषा और लिपि थी, वहाँ अशोक के शिलालेख स्थानीय भाषा और स्थानीय लिपि में ही थे। हालाँकि उसने बौद्ध धर्म स्वीकार किया था मगर इसे उसने दूसरों पर लादने की कोशिश नहीं की। अपने एक शिलालेख में अशोक ने कहा है, " जो भी व्यक्ति अपने धर्म का सम्मान करता है और अपने धर्म के प्रति सम्मान की भावना रखकर दूसरों के धर्म का मखौल उड़ाता है और अपने धर्म को दूसरे सभी धर्मों से श्रेष्ठ बतलाता है, वह निश्चय ही स्वयं अपने धर्म की हानि करता है''।

प्राचीन भारतीय इतिहास का अगला काल 200 ईसा-पूर्व से सन् 300 ईसवी तक का है। यह युग आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों के कारण तथा धर्म, कला, विज्ञान और प्रौद्योगिकी समेत संस्कृति के विभिन्न पक्षों में होने वाले विकास के कारण अत्यंत महत्वपूर्ण है। आर्थिक जीवन को लें तो इस काल में स्थलीय और समुद्री, दोनों मार्गों से होने वाले विदेशी व्यापार में महत्वपूर्ण विकास हुआ तथा ऐसे हस्तशिल्पों और ऐसे नगरों का उदय हुआ जो पहले अज्ञात थे। राजनीतिक जीवन को लें तो पश्चिमोत्तर, उत्तरी और पश्चिमी भारत के बड़े भाग पर अभारतीय मूल के वंशों का शासन स्थापित हुआ। ये वंश थे—इंडो-यूनानी, शक, पार्थियन और कुषाण। इन राजनीतिक संपर्कों के कारण अर्थव्यवस्था में उपर्युक्त विकास की गति तेज हुई और भारत का मध्य तथा पश्चिमी एशिया और यूनानी-रोमी सभ्यता वाले क्षेत्र से घनिष्ठ संपर्क स्थापित हुआ। इस काल में भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों के फलने-फूलने में इन संपर्कों की महत्वपूर्ण भूमिका रही। भारतीय क्षेत्रों पर राज्य करने वाले अधिकांश विदेशी शासकों ने किसी न किसी भारतीय धर्म को अपना लिया। एक महत्त्वपूर्ण घटनाक्रम था—कनिष्क के संरक्षण में महायान बौद्ध धर्म का प्रसार तथा उससे संबंधित महान बौद्ध कालीन कला का विकास। दक्कन और दक्षिण भारत में अनेक राज्य स्थापित हुए, जिनमें शक्तिशाली सातवाहन साम्राज्य भी शामिल था। दक्कन में बौद्धकालीन कला का उल्लेखनीय विकास हुआ। इसी काल में तमिल साहित्य का भी विकास हुआ। विश्वास किया जाता है कि ईसाइयत का भारत से संपर्क इस काल में शुरू हुआ। हालाँकि भारत में ईसाई मतावलंबियों की अधिक संख्या अनेक सदियों बाद ही हुई।

प्राचीन भारतीय इतिहास का अंतिम चरण चौथी सदी ईसवी से आरंभ होकर लगभग आठवीं सदी ईसवी तक जारी रहा। इस काल में एक विशाल गुप्त साम्राज्य की स्थापना हुई, जो लगभग एक सदी तक शक्तिशाली बना रहा। दक्कन और दक्षिण भारत में इस काल में दो महत्त्वपूर्ण राज्य — पल्लवों और चालुक्यों के थे। कुछ अर्थों में इस काल में अवनति आई। नगरों और व्यापार का क्रमिक ह्रास, मजबूत केंद्रीकृत राज्यों की अनुपस्थिति और भूमिदान की प्रथा का आरंभ इस अवनति के सबूत हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार ये बातें भारत में सामंतवाद के उदय की सूचक हैं। फिर भी संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों कला, भवन निर्माण, साहित्य, दर्शन, विज्ञान, प्रौद्योगिकी में इस काल की कुछ श्रेष्ठतम

उपलब्धियाँ रहीं। इन उपलब्धियों के कारण इस काल को अक्सर भारतीय सभ्यता का क्लासिकल या उत्कृष्ट युग कहा जाता है।

धर्म के क्षेत्र में, इस काल में बौद्ध धर्म का पतन हुआ और धर्म यानी आज की भाषा में कहें तो हिंदू धर्म का उत्थान हुआ। मूर्तिपूजा प्रचलित हुई और दक्षिण भारत, दक्कन तथा उत्तर भारत में भी बड़े पैमाने पर मंदिरों का निर्माण कार्य आरंभ हुआ। बौद्ध धर्म से प्रेरित कलाएँ खासकर स्थापत्य और चित्रकला भी जारी रही। संस्कृत में धार्मिक और लौकिक दोनों प्रकार के साहित्य में महान प्रगति हुई और वह देश के अधिकांश भाग में दरबारों की भाषा भी बनी। तमिल साहित्य की भी महान प्रगति हुई और उसमें अलवारों और नयनारों, वैष्णव और शैव संतों– का स्मरणीय योगदान रहा। देश के अधिकांश भाग में संस्कृत की मजबूत स्थिति के बावजूद इस काल में देश के विभिन्न भागों में अनेक आधुनिक भारतीय भाषाओं और अलग लिपियों का जन्म भी हुआ। विज्ञान और प्रौद्योगिकी में हुई कुछ अत्यंत उल्लेखनीय प्रगति के कारण भी इस काल का महत्व है। नक्षत्र विज्ञान, गणित और आयुर्विज्ञान की अधिकांश प्रमुख पुस्तकें इसी काल में लिखी गईं। भारतीय इतिहास का प्राचीन काल जब समाप्त हुआ, उस समय तक भारतीय संस्कृति कुछ ऐसी विशेषताओं से विभूषित हो चुकी थी जो आज तक उसके साथ जुड़ी हुई है।

मध्य काल

मध्यकालीन भारत में प्राचीन काल की कुछ उपलब्धियाँ और भी समृद्ध हुईं और उनकी बुनियादों पर नए और शानदार महल खड़े किए गए। भारतीय समाज में अनेक ऐसे तत्व उभरे जिनका संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर प्रभाव पड़ा।

आठवीं से बारहवीं सदी तक के काल में अनेक राज्यों का अस्तित्व राजनीतिक जीवन की विशेषता थी। इनमें से बड़े राज्यों ने उत्तरी भारत और दक्कन में अपना वर्चस्व स्थापित करने के प्रयास किए। प्रतिहार, पाल और राष्ट्रकूट वर्चस्व के इस संघर्ष के प्रमुख प्रतियोगी थे। दक्षिण में इस काल में सबसे शक्तिशाली राज्य चोलों का था। चोलों ने देश के एक बड़े भाग का राजनीतिक एकीकरण किया मगर आमतौर पर राजनीतिक बिखराव बना ही रहा–खासकर उत्तरी भारत में। व्यापार और नगरों की अवनति की प्रक्रिया जारी रही। सामाजिक जीवन में जाति प्रथा में पहले से कहीं अधिक जड़ता और कठोरता आई। कुछ अर्थों में जड़ता और अलगाव इस काल की विशेषता रही। मगर कुल मिलाकर देखें तो स्थिति इतनी निराशाजनक नहीं थी। देश के कुछ सबसे शानदार मंदिर, उत्तर और दक्षिण दोनों भागों में, इसी काल में बनें और वे अनेक क्षेत्रीय शैलियों में बनाए गए। आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास में भी इस काल का महत्व है। भवन-निर्माण, स्थापत्य, साहित्य और दर्शन का चोल राजाओं के संरक्षण में विकास हुआ। चोल राज्य के काल में दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ व्यापारिक और सांस्कृतिक संपर्क भी बढ़े। इस काल में सांस्कृतिक एकीकरण की कुछ नई प्रवृत्तियाँ भी उभरी। इनमें से एक प्रवृत्ति का संबंध दार्शनिक शंकराचार्य से है जिन्होंने देश के विभिन्न भागों में विभिन्न मठ स्थापित किए। दूसरी प्रवृत्ति थी–पूरे देश में भक्ति मत का प्रसार। इसका आरंभ दक्षिण भारत में अलवारों और नयनारों, वैष्णव और शैव संतों के कारण हुआ था। बाद की सदियों में यह मत देश के अधिकांश भागों की जनता के धार्मिक जीवन का प्रमुख अंग बन गया।

इस्लाम धर्म के साथ भारत का संपर्क इसी काल में हुआ। यह सपर्क सातवीं सदी के आरंभिक भाग में अरब व्यापारियों के द्वारा हुआ। बाद में अरबों ने आठवीं सदी के आरंभ में सिंध को जीत लिया। दसवीं सदी में तुर्क मध्य और पश्चिमी एशिया में एक बड़ी ताकत बनकर उभरे और उन्होंने अपने राज्य-साम्राज्य स्थापित किए। उन्होंने ईरान को जीता मगर खुद उनका जीवन भी पुरानी और समृद्ध ईरानी संस्कृति से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। दसवीं सदी के अंतिम और ग्यारहवीं सदी के आरंभिक भाग में भारत पर तुर्कों के पहले हमले हुए और पंजाब में तुर्क शासन स्थापित हो गया। बारहवीं सदी के अंतिम और तेरहवीं सदी के आरंभिक भागों में तुर्कों के अनेक आक्रमण फिर हुए, जिनके कारण दिल्ली सल्तनत स्थापित हुई। अरब में इस्लाम के उदय के कुछ ही सदियों के अंदर यह भारत का दूसरा सबसे बड़ा धर्म बन गया और देश के सभी भागों में इसके मानने वाले पाए जाने लगे।

दिल्ली सल्तनत की स्थापना के साथ मध्यकालीन

भारतीय इतिहास का एक नया युग आरंभ होता है। राजनीतिक दृष्टि से देखें तो इससे लगभग एक सदी के काल में उत्तरी भारत और दक्कन के कुछ भागों का एकीकरण हुआ। इसकी स्थापना के लगभग आरंभ में ही इसके शासकों ने उन क्षेत्रों से संपर्क तोड़ लिया, जहाँ से वे आए थे। उनका राज्य एक भारतीय राज्य था। चौदहवीं सदी के अंतिम वर्षों में इस सल्तनत का पतन होने लगा और देश के अनेक भागों में अनेक राज्य खड़े होने लगे। इनमें से कुछ बहुत ही शक्तिशाली थे, उदाहरण के लिए बहमनी और विजयनगर के राज्य। समाज में नए तत्वों के समावेश के कारण इस काल का बहुत महत्व है। कुछ तटीय भागों में बसे अरबों के अलावा तुर्क, ईरानी, मंगोल और अफ़गान भी भारत में बसने लगे। आर्थिक जीवन में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आए। व्यापार और दस्तकारी को बढ़ावा मिला और प्रशासन, व्यापार तथा दस्तकारी के केंद्रों के रूप में अनेक नए नगरों का उदय हुआ।

सांस्कृतिक दृष्टि से देखें तो भारत की समन्वित संस्कृति के विकास का इस काल में एक नया युग आरंभ हुआ। भारत में नई कलाओं और भवन-निर्माण की नई शैलियों का समावेश और देश के सभी भागों में उनका प्रवेश हुआ। इस काल में भवन निर्माण तथा अन्य कलाओं का विकास उन क्षेत्रीय सल्तनतों में हुआ जो सल्तनत के बिखरने के बाद स्थापित हुई थीं। भाषाओं और साहित्य का उल्लेखनीय विकास इस काल में हुआ। ये भाषाएँ जो पहले से ही विकसित होती आ रही थीं, साहित्य रचना के प्रमुख साधन बन गईं। भक्तिमार्गी संतों ने इन भाषाओं को समृद्ध बनाया और इससे इन भाषाओं के साहित्य में बहुत-सी बातें समान दिखाई देती हैं। अरबी और फ़ारसी नामक दो नई भाषाएँ भी भारत की भाषायी धरोहर का अंग बनीं। इनमें अरबी मुख्यत: इस्लामी शिक्षा की भाषा थी। साहित्य के लिए और व्यापक प्रसार के कारण फ़ारसी अधिक महत्वपूर्ण बनकर उभरी। अनेक क्षेत्रों में यह संस्कृत के स्थान पर दरबारी भाषा बनी और पूरे देश में यह भी संस्कृत के साथ ज्ञान की भाषा बन गई। ऐतिहासिक लेखन पहली बार भारतीय साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग बनकर उभरा। फ़ारसी के प्रभाव से ग़ज़ल जैसे साहित्य की नई विधा का जन्म हुआ। एक नए धर्म के साथ दो महान धार्मिक आंदोलनों का प्रचार भी इस काल में हुआ। भक्ति आंदोलन अनेक सदी पहले ही शुरू हुआ था पर अब वह पूरे देश में फैल गया। भक्ति आंदोलन की एक प्रमुख प्रवृत्ति ने धार्मिक तंगनजरी, अंधविश्वासों और खोखले कर्मकांडों की घोर निंदा की जिसके सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधि कबीर और नानक हैं। दूसरा आंदोलन था–सूफ़ियों का। सूफ़ियों ने जो मुस्लिम रहस्यवादी संत थे मुहब्बत और इंसानी भाईचारे का उपदेश दिया। इन दो आंदोलनों ने धार्मिक अलगाव और तंगनजरी का विरोध करने में अग्रणी भूमिका निभाई और सभी समुदायों के लोगों को एक दूसरे के करीब किया। गुरू नानक और अन्य संतों की शिक्षाओं के आधार पर सिख धर्म नाम का एक नया धर्म आरंभ हुआ।

भारतीय संस्कृति में नई प्रवृत्तियों के विकास और देश में एक समन्वित संस्कृति के विकास की प्रक्रिया 16वीं और 17वीं सदियों में महान मुग़ल सम्राटों के काल में अपनी चरम सीमा पर पहुँची। मुग़लों ने एक विशाल साम्राज्य कायम किया और देश के एक बड़े भाग का एक बार फिर राजनीतिक एकीकरण हुआ। अकबर मुग़ल सम्राटों में सबसे महान था। अशोक की तरह उसने भी "सुलह कुल" (सबके साथ शांति) की नीति अपनाई। उसका कहना था। " ये विभिन्न समुदाय वे खुदाई खजाने हैं जो खुदा ने हमारे हवाले किए हैं इसी रूप में हमें उनसे मुहब्बत भी करनी चाहिए। हमें इस बात पर पूरा भरोसा होना चाहिए कि हर धर्म को उस खुदा की रहमत हासिल है और तहे-दिल से हमें इस बात की कोशिश करनी चाहिए कि हम सुलह-कुल के हरे-भरे बाग के अमन-चैन से फायदा उठाएँ। खुदा बिना कोई भेद-भाव किए सभी इन्सानों पर अपनी रहमत की बारिश करता है। हुक्मरानों को, जो धरती पर ईश्वर के नुमाइंदे हैं, कभी इस उसूल से मुँह नहीं मोड़ना चाहिए।" भारतीय भवन-निर्माण, कला और साहित्य की कुछ बेहतरीन मिसालें इस काल में सामने आईं। कला का एक नया और महत्वपूर्ण रूप था–चित्रकला, जिसका मुग़ल दरबार के संरक्षण में खूब विकास हुआ। ईरानी परंपराओं से प्रभावित होकर मुग़ल चित्रकला एक विशिष्ट भारतीय शैली बनकर उभरी। अनेक क्षेत्रीय शैलियों में ढलकर यह बाद में पूरे देश में फैल गई। एक महत्वपूर्ण घटना थी उर्दू नामक एक नई भाषा का विकास जो देश के अनेक भागों

में नगरीय जनता की संपर्क भाषा बन गई।

आधुनिक काल

भारतीय इतिहास का आधुनिक काल 18वीं सदी से शुरू होता है। राजनीतिक क्षेत्र में मुग़ल साम्राज्य का पतन हुआ और देश के विभिन्न भागों में अनेक छोटे-बड़े स्वतंत्र राज्य उभरे। इनमें से कोई भी मुगल साम्राज्य का स्थान नहीं ले सका जिसके अंतर्गत देश का एक बड़ा भाग लगभग 150 वर्षों तक राजनीतिक दृष्टि से एक रहा था। इसके बावजूद एक समन्वित संस्कृति के विकास की प्रक्रिया चलती रही। इसके सबूत हैं — मुग़ल चित्रकला से प्रभावित होकर चित्रकला की नई शैलियों का विकास, उर्दू समेत विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य और विभिन्न समुदायों के लोगों के एक-दूसरे के करीब आने की प्रक्रिया का जारी रहना।

विश्व के कुछ दूसरे भागों में हो रही घटनाओं के संदर्भ में देखें तो यह काल जड़ता का काल है। आप उन घटनाक्रमों के बारे में पढ़ चुके हैं, जिनके कारण यूरोप के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन में दूरगामी परिवर्तन आए। विज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण विकास हुए और जल्द ही नई तकनीकों ने यूरोप के अनेक देशों में सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक जीवन को और भी बदलकर रख दिया। 16वीं सदी के बाद से कुछेक यूरोपीय देश दुनिया के बड़े-बड़े इलाकों पर अपना औपनिवेशिक शासन स्थापित करने लगे थे। भारत और दूसरे एशिया और अफ़्रीका के देशों के जीवन में इस प्रकार के परिवर्तन नहीं हुए और इस तरह इन देशों में सापेक्षत: जड़ता आई। हालाँकि यूरोप के व्यापारियों, मिशनरियों और दूसरे लोगों के साथ संपर्कों की कमी न थी, फिर भी यूरोप में हो रहे इन परिवर्तनों के महत्त्व को नहीं समझा गया। 18वीं सदी के लगभग मध्य से अंग्रेजों ने भारत-विजय का अभियान आरंभ किया। यह अभियान कुछ ही दशकों में पूरा हो गया और 19 वीं सदी के मध्य तक पूरा देश अंग्रेज़ों के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष शासन में आ चुका था। भारत अपने इतिहास में पहली बार एक विदेशी शासन का दास बना था। अब वे विदेशी उस पर शासन कर रहे थे, जो यहाँ बसने नहीं बल्कि अपने देश के स्वार्थ के अनुसार यहाँ शासन करने आए थे। एक देश के प्रमुख वर्गों और समूहों द्वारा एक दूसरे देश के शोषण की एक नई प्रणाली स्थापित हुई। विदेशी शासन की उत्पन्न की हुई परिस्थितियों में भारतीय जनता जागरूक होने लगी और अंतत: इस जागरूकता की अभिव्यक्ति स्वाधीनता के संघर्ष में, भारत के साम्राज्यवादी शोषण के अंत में और एक नए भारत के निर्माण की शुरुआत में हुई। 19 वीं सदी के आरंभिक दशकों से ही देश में अनेक सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक आंदोलन चलने लगे थे जिनका उद्देश्य भारतीय समाज की जड़ता को तोड़ना था। इन आंदोलनों पर आधुनिक लोकतांत्रिक, मानवतावादी और वैज्ञानिक विचारों का प्रभाव पड़ा। राष्ट्रीय चेतना जगाने और भारत के सांस्कृतिक विकास के एक नए चरण की नींव रखने में इन आंदोलनों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। राष्ट्रीय आंदोलन ने भारतीय जनता को नए आधार पर संगठित किया। इसने "विविधता में एकता" को पहचाना और उसे बल दिया और भारतीय संस्कृति के समन्वित स्वरूप को उसकी ख़ास विशेषता बतलाया। भारत के सांस्कृतिक विकास की इस खास विशेषता को बल पहुँचाना भी स्वतंत्र, संगठित और भविष्योन्मुखी भारत के निर्माण के राष्ट्रीय लक्ष्य का अभिन्न अंग था। 19वीं और 20वीं सदी में भारत में हुए परिवर्तनों के कुछ पहलुओं के बारे में आप आगे अध्याय 15 और अध्याय 16 में पढेंगे।

इस खंड में जिस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का वर्णन किया गया है, उससे संस्कृति के कुछ पहलुओं के विकास का अध्ययन करने के लिए हमें समुचित संदर्भ मिल जाता है। इन पहलुओं के विकास का वर्णन हम आगे के खंडों में करेंगे।

वास्तुकला और अन्य कलाएँ

भारतीय कला का आरंभ हड़प्पा संस्कृति से होता है। आप जानते हैं कि हड़प्पावासी सुनियोजित नगरों को बनाने में कुशल थे और उन्होंने अनेक भवनों का निर्माण किया। विभिन्न सुविधाओं से युक्त मकान, अन्न-भंडार, विशाल स्नानागार, आदि से पता चलता है कि ये लोग निर्माण कार्य में कितने कुशल थे। इस काल में पक्की मिट्टी की और पत्थर की मूर्तियों का निर्माण हुआ। नर्तकी की कांसे की

मूर्ति और कलापूर्ण मुहरों से इन कलाकारों की मनमोहक कुशलता और श्रेष्ठता का पता चलता है।

मौर्य काल

भारतीय कला का दूसरा चरण मौर्य काल में आरंभ हुआ। यह आर्थिक समृद्धि, धार्मिक चिंतन और व्यवहार में महत्वपूर्ण प्रगति और उल्लेखनीय कलात्मक उपलब्धियों का काल था। यूनानी शासक सेल्यूकस का राजदूत बनकर भारत आने वाले मेगास्थनीज ने चंद्रगुप्त मौर्य के महल की बहुत तारीफ़ की है। यह महल बहुत बड़ा, सुख-सुविधाओं से भरपूर और कामदार लकड़ी का बना था। पत्थरों के आरंभिक महल भी लकड़ी के इन्हीं महलों की तर्ज़ पर बनाए गए।

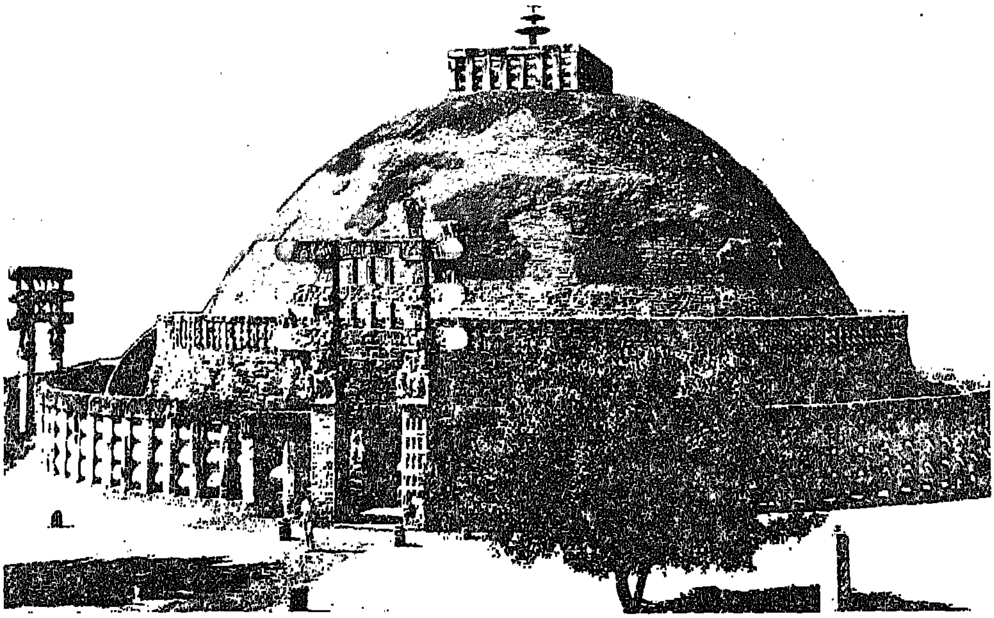


रामपुरवा वृषभ शीर्ष

अशोक के एकाश्म खंभे जिन पर उसके प्रसिद्ध शिलालेख अंकित हैं, मौर्य काल के महान स्मारक हैं। कई विद्वान इन खंभों पर ईरान का प्रभाव देखते हैं। इन खंभों की सबसे स्पष्ट विशेषता वे भव्य शीर्ष हैं जिनमें पशुओं के चित्र बारीकी से खोदकर बनाए गए हैं। हम सभी सारनाथ की उस भव्य सिंह मूर्ति से परिचित हैं जो भारत के राष्ट्रीय चिह्न में शामिल है। रामपुरवा वृषभ की मूर्ति वाला स्तंभ-शीर्ष पशुओं की मूर्तियों के सबसे अच्छे उदाहरणों में से एक है। इन खंभों की पालिश और चिकनाहट हैरान कर देने वाली है।

साँची का प्रसिद्ध स्तूप इस काल की एक और कलात्मक उपलब्धि है। हर स्तूप में एक छोटा-सा कक्ष होता है, जिसमें बुद्ध के या बौद्ध संतों और भिक्षुओं के पार्थिव अवशेष एक कलश में रखे हुए होते हैं। स्तूपों का बाहरी धरातल आम-तौर पर ईंटों का बना होता है और उस पर प्लास्टर की एक पतली तह चढ़ी होती है। स्तूप के ऊपरी भाग में पत्थर की एक छतरी होती है। स्तूप के चारों ओर परिक्रमा का एक रास्ता होता है जो रेलिंग से घिरा होता है। मूल-स्तूपों को समय-समय पर बढ़ाया तथा और भी सुंदर बनाया जाता रहा है। साँची का स्तूप जो आज भी सही सलामत खड़ा है, अपने पूरे गौरव के साथ सुरक्षित एक शानदार स्मारक है। मुख्य स्तूप के आसपास अनेक छोटे स्तूप, दूसरे भवन और आराम घर आदि भी पाए जाते हैं।

साँची का स्तूप आज़ चारों ओर पत्थर की एक बाड़ से घिरा है और इसके द्वार भी हैं। ये बाड़ और दरवाज़े मौर्य काल के बाद जोड़े गए। ये द्वार बहुत ही आकर्षक हैं। स्तूप के चार कोनों पर चार द्वार हैं, जिनमें बहुत सजीव और सुंदर कारीगरी वाले पैनल हैं। इन पैनलों में बुद्ध के जीवन की घटनाओं और जातक-कथाओं की घटनाओं के दृश्य अंकित हैं। इनमें पेड़ों और फूलों की डिजाइनें, पशु और पक्षी, यक्षों और यक्षणियों तथा नर-नारियों के सुंदर चित्र भी हैं। इस तरह साँची की कला में बुद्ध की कहानी अंकित है और यह स्पष्ट, सरल और नाटकीय दृश्यों के माध्यम से भारतीय जीवन का चित्र हमारे सामने रखती है। इन पैनलों में बुद्ध को उनकी मूर्ति के द्वारा नहीं, बल्कि



साँची का स्तूप

विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से दर्शाया गया है। उदाहरण के लिए, घोड़ा उनके गृह-त्याग का और बोधिवृक्ष उनकी बोधि-प्राप्ति का प्रतीक हैं।

कला की गांधार और मथुरा शैलियाँ

कला के विकास के अगले महत्त्वपूर्ण चरण का संबंध पश्चिमोत्तर में स्थित गांधार से है। इस समय तक बुद्ध की मूर्तियों की पूजा बहुत प्रचलित हो चुकी थी। यूनानी हमलों के बाद, कुषाणों के काल में पश्चिमी एशिया के बहुत से कलाकार पश्चिमोत्तर भारत में आकर बस गए थे। वे यूनानी-रोमन कला से बहुत प्रभावित थे। महायान बौद्ध धर्म मूर्ति-पूजा को बढ़ावा देता था। कुषाण राजाओं और ख़ासकर कनिष्क ने गांधार के कलाकारों को प्रोत्साहित किया कि वे बुद्ध के जीवन तथा जातक-कथाओं की घटनाओं को पत्थरों में उतारें। यहाँ जिस कला-शैली का प्रादुर्भाव हुआ उसे गांधार शैली के नाम से जाना जाता है। इस काल में बुद्ध और बोधिसत्वों की बहुत सारी मूर्तियाँ बनाई गईं।

ईसवी सन् की आरंभिक सदियों में मथुरा में एक और कला-शैली का विकास हुआ। ईसवी सन् के आरंभ में ही मथुरा कलात्मक गतिविधियों का प्रमुख केंद्र बन चुका था। बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियाँ सबसे पहले मथुरा में बनीं। देशी कला-परंपरा की श्रेष्ठतम विशेषताओं को मथुरा के शिल्पियों ने सुरक्षित रखा और समृद्ध बनाया। यहाँ बनी मूर्तियाँ बाद के कलाकारों के लिए मार्गदर्शक बन गईं।

इस काल के सातवाहन राजाओं के संरक्षण में अमरावती में भी कला का विकास हुआ। साँची के स्तूप की तरह अमरावती में भी गोदावरी की निचली घाटी में एक स्तूप था। हालाँकि यह स्तूप अब नष्ट हो चुका है, मगर इसके अनेक सुंदर अंश विभिन्न संग्रहालयों में अभी भी सुरक्षित हैं। यह स्तूप गोलाकार आधार पर बने अनेक सुंदर चित्रों और कामदार पैनलों से अलंकृत हैं। साँची के स्तूप की तरह ये भी बुद्ध के जीवन तथा जातक-कथाओं की घटनाओं का



बोधिसत्व, गांधार

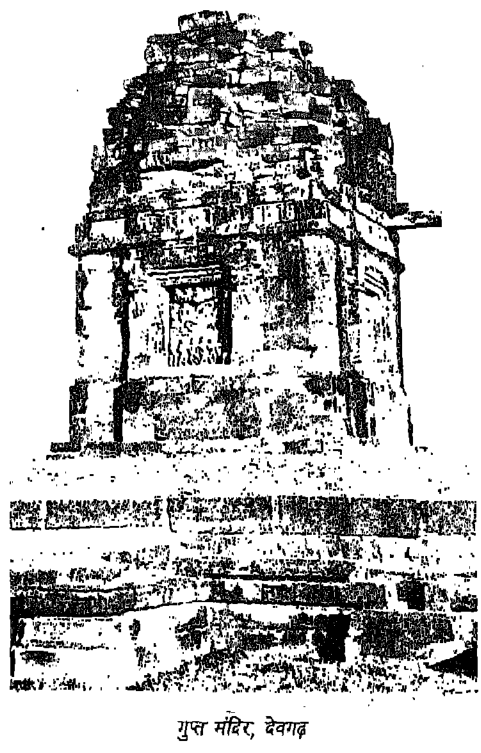


अमरावती का चित्र फलक जिसमें गौतम बुद्ध को हाथी को वश में करते हुए दर्शाया गया है।

चित्रण करते हैं। इनमें से एक में बुद्ध द्वारा एक हाथी को सधाए जाने का चित्र अंकित है। जब बुद्ध राजगृह की गलियों में भ्रमण कर रहे थे तो उन्हें मारने के लिए एक पागल हाथी छोड़ दिया गया। पैनल में उस पागल हाथी को गलियों में चिंघाड़ते-दौड़ते, उसके कारण पैदा हुए आतंक, नर-नारियों की प्रतिक्रियाओं को और आखिर में हाथी को बुद्ध के आगे नतमस्तक होते दिखाया गया है। इस चरम-बिन्दु का चित्रण बहुत ही सूक्ष्मता के साथ हुआ है और एक पैनल में ही इस कथा का सारा जादू उतार दिया गया है।

इस क्षेत्र के अनेक दूसरे स्थानों पर भी बौद्धकालीन अवशेष पाए गए हैं। नागार्जुनकोंडा के नागार्जुन सागर बाँध के पानी में डूबने से पहले वहाँ हुई खुदाइयों से बौद्ध कला का संग्रह और भी समृद्ध हुआ है।

गुप्त काल में प्राचीन भारतीय संस्कृति खूब फली-फूली। इस काल में हिंदू मंदिरों का निर्माण आरंभ हुआ। इसका



गुप्त मंदिर, देवगढ़

उदाहरण है – देवगढ़ का मंदिर। वहाँ एक छोटा-सा गर्भगृह है जहाँ देवता की मूर्ति रखी हुई है। उदयगिरि की गुफा में चित्रित वाराह-अवतार का दृश्य बहुत ही प्रभावशाली है। बुद्ध की जो सादी और प्यारी मूर्तियाँ सारनाथ में मिली हैं वे गुप्त काल के शिल्पियों की कुशलता का सबूत देती हैं। अजंता और एलोरा की कुछ गुफाएँ भी इसी काल की हैं।

इस काल में बने हिंदू मंदिरों को वर्गाकार चबूतरों पर बनाया गया है।

गुफाओं का वास्तुशिल्प

भारतीय वास्तुशिल्प का एक महत्त्वपूर्ण चरण गुफाओं की वास्तुशिल्प का विकास है। भारत के विभिन्न भागों में एक हज़ार से अधिक गुफाओं का पता चला है, जो दूसरी सदी ईसा-पूर्व से लेकर दसवीं सदी ईसवी तक की हैं। अधिकांश गुफाएँ बौद्ध कला की हैं पर कुछ हिंदू और जैन कला की भी हैं। सुंदर चैत्य (पूजा के कक्ष), विहार, मंडप, रथ और गुफा-मंदिर चट्टानों को काटकर बनाए गए हैं। इन चट्टानों की मज़बूती ने कला के संरक्षकों को आकर्षित किया, और उन्होंने यहाँ स्थायी स्मारक बनवाकर उन्हें धार्मिक कार्यों के लिए समर्पित किया। इन चट्टानों को मनमोहक देव मंदिरों में बदल दिया गया जिनमें खंभों से टिके हाल और रहने के कमरे होते हैं और ये सभी मूर्तियों से अलंकृत हैं। तत्कालीन शिल्पियों ने चट्टानों को काटने में जिस असाधारण कुशलता, धैर्य और कारीगरी का परिचय दिया, उसके सबूत ये मंदिर हैं।

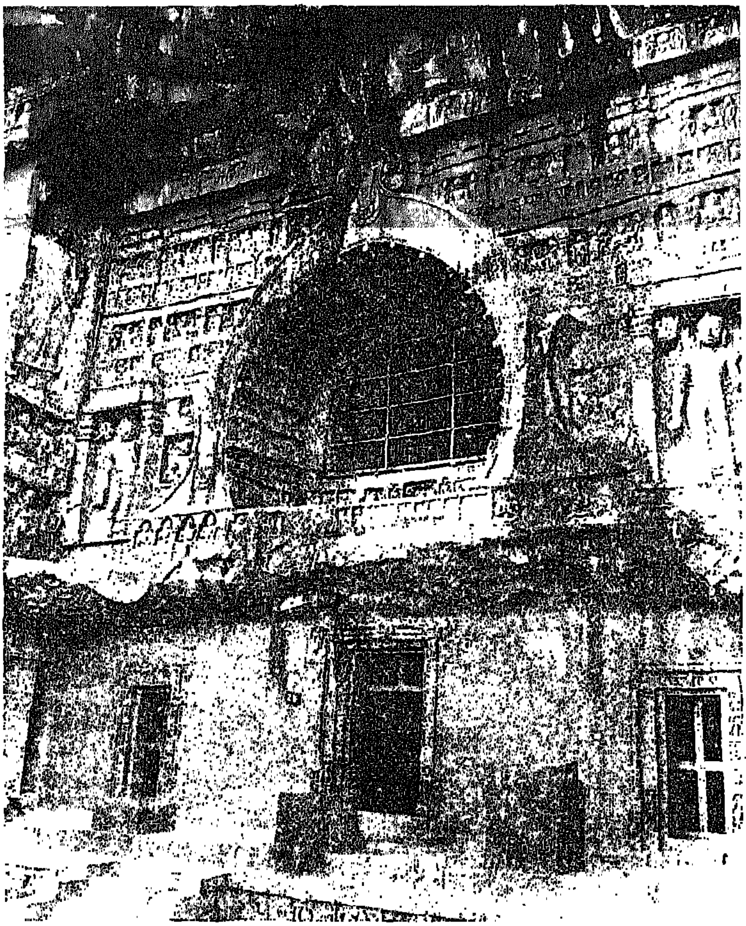


उपदेश देते हुए बुद्ध, सारनाथ

चट्टानों को काटकर सबसे पहले पश्चिमी दक्कन में ईसवी सन् की आरंभिक सदियों के शुरुआती सालों में मंदिर बनाए गए। इस काल का पहला स्मारक कार्ले का चैत्य है। यह अच्छी तरह पालिश किए गए तथा अलंकृत खंभों और गुंबदाकार छतों वाला हाल है।

गुफाओं की वास्तुकला के दूसरे चरण में कुछ मनमोहक नमूने सामने आए। महायान बौद्ध, हिंदू और जैन धर्मों में मूर्ति-पूजा के बढ़ते प्रचलन से निर्माण-कार्य को बढ़ावा मिला। अजंता, एलीफैंटा और एलोरा के गुफा-मंदिर, मंडप, महाबलिपुरम् के रथ और एलोरा का कैलाश मंदिर इस काल की कुछ शानदार उपलब्धियाँ हैं। इन स्मारकों के आकार, महायान बौद्ध, हिंदू और जैन धर्मों से लिए गए विषयों की विविधता, बुद्ध की विशालकाय मूर्तियाँ, जीवन के सभी पक्षों का चित्रण करने वाले शानदार पैनल – ये सभी अजंता, एलोरा और एलीफैंटा की गुफाओं का भ्रमण करने वालों को चमत्कृत कर देते हैं। इन गुफाओं की कुछ श्रेष्ठ शिल्प-कृतियों का निर्माण चालुक्य और राष्ट्रकूट राजाओं के संरक्षण में हुआ।

एलीफैंटा की गुफाओं में त्रिमूर्ति नाम की एक भव्य मूर्ति है। ईश्वर के तीन रूपों का एक विशाल मूर्ति में चित्रण करने का विचार ही शानदार विचार है। अगर हम तीनों रूपों का बारीकी से निरीक्षण करें तो हर बात में एक श्रेष्ठ

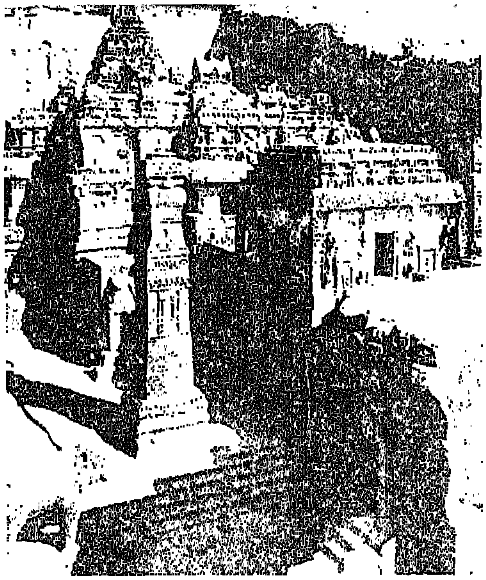


अजंता की गुफा का एक पार्श्व

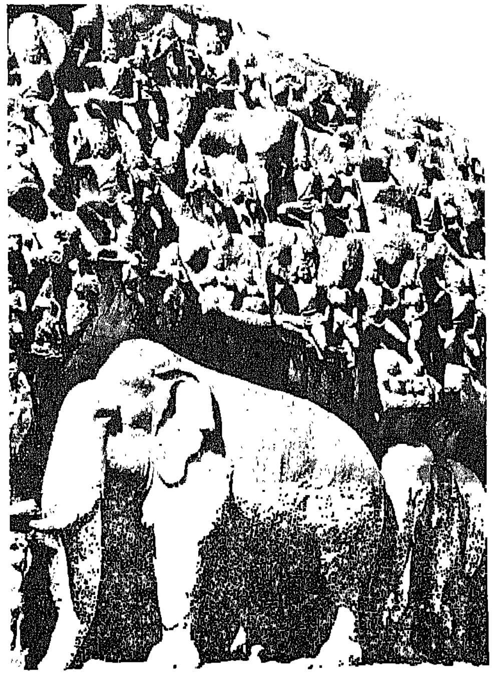
कला के दर्शन होते हैं।

अजंता में कुल 27 गुफाएँ हैं। प्राचीन भारत की श्रेष्ठतम चित्रकलाएँ यहाँ मौजूद हैं। कुछ गुफाओं में बुद्ध की असाधारण रूप से सुंदर प्रतिमाएँ, उनके जीवन तथा जातक-कथाओं से लिए गए दृश्य चित्रित किए गए हैं।

शिल्प-कला के सुंदर नमूनों से युक्त लगभग 35 गुफाएँ एलोरा में हैं। हिंदू देवमाला की कुछ नाटकीय घटनाओं ने शिल्पियों को अभिभूत कर लिया तो उन्होंने इन घटनाओं को पत्थरों में अमर बना दिया। यहाँ की कला का श्रेष्ठतम नमूना कैलाश मंदिर राष्ट्रकूटों की देन है। यह मंदिर एक बड़ी चट्टान को ऊपर से काटकर बनाया गया है और तत्कालीन शिल्पियों के साहस और सौंदर्य-प्रेम का परिचय देता है। यह मंदिर अनेकानेक सुंदर मूर्तियों से सुसज्जित है। विस्तार से देखें तो यह मंदिर पत्थरों की चिनाई से बने एक मंदिर के समान है पर यह गुफाओं की वास्तुकला का एक अनमोल रत्न है।



कैलाश मंदिर, एलोरा



गंगावतरण, महाबलिपुरम्

गुप्त काल की कलात्मक उपलब्धियाँ सदियों तक बनी रहीं और उनका खूब प्रसार हुआ। दक्कन तथा दक्षिण भारत के चालुक्य, राष्ट्रकूट और पल्लव राजाओं ने भी अनेक भव्य स्मारक बनवाए जिनमें कुछ गुफाओं को काटकर बनाया गया तथा कुछ पत्थरों की चिनाई करके।

पल्लवों द्वारा पत्थर चिनकर बनवाए गए और चट्टान काटकर बनवाए गए दोनों प्रकार के मंदिर वास्तुकला के शानदार नमूने हैं। महाबलिपुरम् के मंडप पत्थरों को काटकर बनाए गए बड़े कमरे हैं जिनमें शानदार कारीगरी से युक्त खंभे और पैनल हैं।

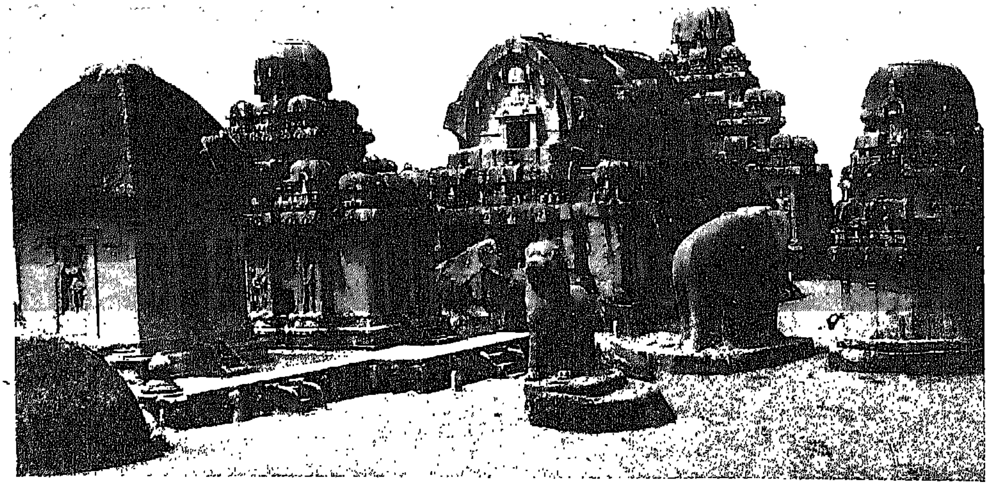
महाबलिपुरम् का "गंगावतरण" नाम का शानदार पैनल चट्टान काटकर बनाया गया एक अनोखा स्मारक है। गंगा को धरती पर लाने के लिए राजा भगीरथ द्वारा की गई तपस्या इस पैनल का विषय है।

महाबलिपुरम् के रथ जगत-विख्यात हैं। हर रथ वास्तव में एक ही चट्टान को काटकर बनाया गया एक मंदिर है जो देखने में पत्थरों की चिनाई करके बनाया हुआ लगता है। इन रथों के नाम पांडवों के नामों पर हैं। इन रथों को आप देखें तो हर रथ को दूसरों से आकार-प्रकार में भिन्न पाएँगे।

चिनाई से बनाए गए मंदिर

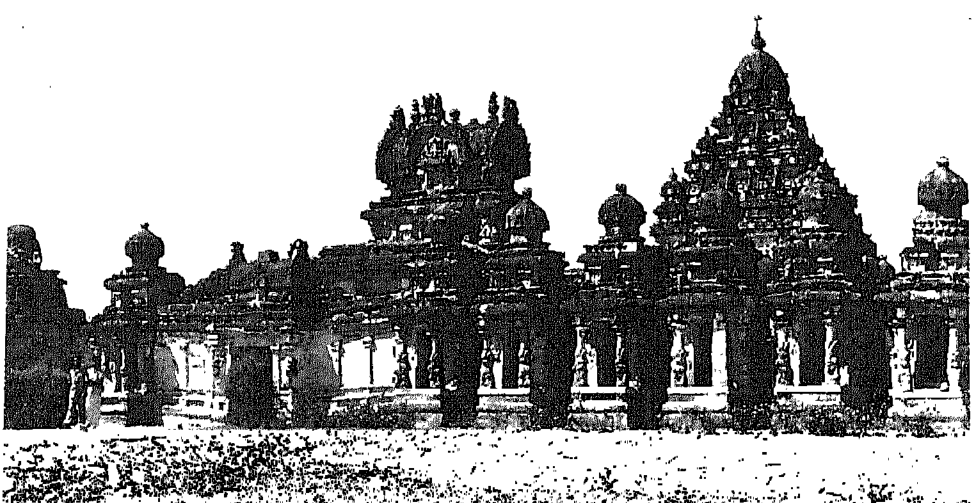
पल्लव राजाओं ने कई चिनाई वाले मंदिर भी बनवाए। इनमें महाबलिपुरम् का "समुद्र तट का मंदिर" है। इसका यह नाम समुद्र के पास होने के कारण पड़ा। एक खूबसूरत पृष्ठभूमि में बने मंदिर की दो मीनारें चाँदनी रात में नयनाभिराम दृश्य प्रस्तुत करती हैं। पल्लवों की राजधानी कांची थी और वहाँ अनेकों मंदिर बनवाए गए। इनमें दो बहुत ही प्रसिद्ध हैं। एक सुंदर विमान से युक्त कैलाशनाथ मंदिर नटराज-रूपी शिव के चित्रों वाले पैनलों से युक्त है। यह पल्लव कला का सुंदर नमूना है। वैकुंठपेरूमल का मंदिर अपने विमान के कारण और पल्लव वंश के इतिहास का चित्रण करने वाले अनेक पैनलों के कारण विख्यात है।

चोल राजा जिनकी राजधानी तंजावुर थी, निर्माण-कार्य के प्रेमी थे। तंजावुर स्थित वृहदेश्वर मंदिर भारत का सबसे



रथ, महाबलिपुरम्

बड़ा मंदिर है। इसका निर्माण राजेंद्र चोल के काल में हुआ था। इस मंदिर की सबसे प्रमुख विशेषता इसका विमान है। प्राचीन मंदिरों में शिखरों का पूर्णतया विकसित रूप हम इस विमान में पाते हैं। यह 65 मीटर ऊँचा है और इस प्रकार बना है कि इसकी छाया कभी धरती पर नहीं पड़ती। इस विमान की शान-शौकत का मुकाबला करने वाला कोई और



कैलाशनाथ मंदिर, कांचीपुरम

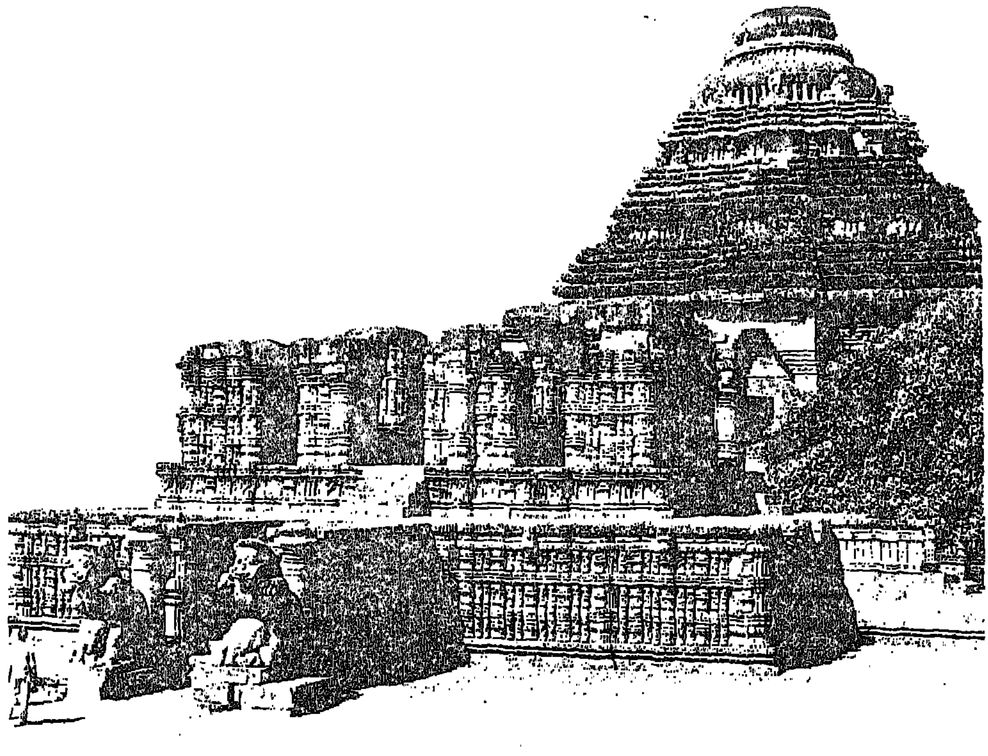
मंदिर नहीं है। इसके खंभेदार हाल और कारीगरी चोल कला के सुंदर नमूने हैं। इसके एक हाल में भरत के "नाट्य-शास्त्र" में वर्णित विभिन्न मुद्राओं का चित्रण किया गया है। गर्भगृह की दीवारों पर अनेक उत्तम चित्र लगे हैं।

दक्षिण में और भी कई प्रसिद्ध मंदिरों का निर्माण हुआ है। चोल-शासन के बाद एक ऐसा विकासक्रम घटित हुआ जिसे पांड्य शासकों से प्रोत्साहन मिला। उन्होंने मंदिरों के बाहर ऊँची दीवारों और ऊँचे दरवाज़ों का निर्माण कराया। इन दरवाज़ों को गोपुरम कहते हैं। अब मुख्य मंदिर के ऊपर स्थित विमान या शिखर से अधिक ध्यान गोपुरम पर दिया जाने लगा। गोपुरम की कलात्मक सुंदरता का इतना प्रचलन हुआ कि उन्हें ही दक्षिण भारतीय मंदिरों की खास विशेषता समझा जाने लगा। काँची और मदुरइ के मंदिरों के गोपुरम को बहुत दूर से देखा जा सकता है।

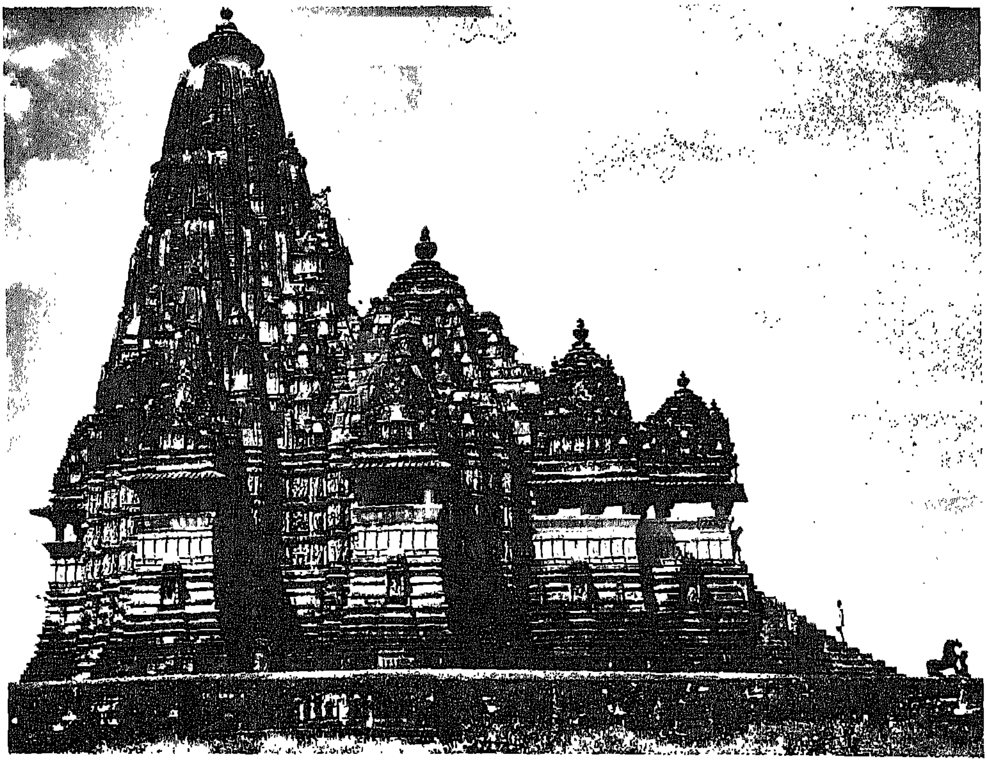
मैसूर के होयसल शासक कला के महान संरक्षक थे। उन्होंने बेलूर, हेलेबिड तथा दूसरी जगहों पर अनेक भव्य मंदिर बनवाए। कामदार खंभों की बहुतायत इन मंदिरों की विशेषता है। इनकी चित्र-बल्लरियाँ (फ्रीज़ेज़) और बहुत बारीकी से बनाए गए देवी-देवताओं के चित्रों के पैनल किसी शिल्पी की बजाए किसी जौहरी के बनाए हुए लगते हैं।

चोलकालीन काँसे की मूर्तियाँ

काँसे की शिल्पकला का आरंभ तो पल्लव शासन के अंतिम काल में हुआ पर वह चोलों के शासन में अपने शिखर पर पहुँच गई। नटराज की मूर्ति चोल-काल में काँसे की शिल्पकला का एक शानदार नमूना है। इसकी शानदार कल्पना, इसकी प्रतीकात्मकता, इसकी कलात्मक श्रेष्ठता और इसका आकर्षण, ये सभी दुनिया भर के कलाप्रेमियों



सूर्य मंदिर, कोणार्क



कंदरिया महादेव मंदिर, खजुराहो

को प्रभावित करते हैं। नृत्य की विभिन्न मुद्राओं में नटराज की अनेक मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। चोल राजाओं ने भारतीय कला में जो योगदान किए हैं, उनमें काँसे की मूर्तियाँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।

उत्तर भारतीय मंदिर

दक्षिण भारत की तरह उत्तर भारत के कलाकार और शासक भी मंदिर-निर्माण कला के विकास के प्रति समर्पित रहे हैं। अनेक जगहों पर उन्होंने विभिन्न शैलियों का विकास किया।

इनमें से कुछ भव्यतम मंदिर उड़ीसा में बनाए गए। भुवनेश्वर का लिंगराज मंदिर एक लंबे-चौड़े क्षेत्र में स्थित है और वहाँ अनेक गौण मंदिर भी हैं। लिंगराज मंदिर का शिखर लगभग 40 मीटर ऊँचा और बहुत ही प्रभावशाली है। यह विशालकाय शिखर वक्राकार है। इस मंदिर और दक्षिण के मंदिरों के बीच बहुत-सी समानताएँ तो हैं, पर उनके बीच शैली-संबंधी अंतर बहुत स्पष्ट हैं।

कोणार्क का सूर्य मंदिर अनोखे डिज़ाइन का है। इसे शायद इसमें लगाए गए काले पत्थरों के कारण "काला पगोडा" कहा जाता है। यह सूर्यदेव को समर्पित है। पूरा मंदिर एक रथ के आकार का है जिसमें बारह विशालकाय पहिये हैं और रथ को सात घोड़े खींच रहे हैं। अपनी समृद्ध कामदारी के कारण हर पहिया ही एक मिसाल है। काले पत्थरों को काटकर बनाए गए मानव और पशुओं की आकृतियाँ बहुत ही सजीव लगती हैं। इसमें नृत्य कर रही अप्सराओं की जो मूर्तियाँ पत्थर काटकर बनाई गई हैं उनका अध्ययन नर्तकियाँ आज भी करती हैं और अपने नृत्य प्रस्तुति में सजीवता लाती हैं। इनमें से अनेक मूर्तियों का विषय

श्रृंगार-रस से भरपूर है।

खजुराहो के सुंदर मंदिरों का निर्माण मध्य भारत के चंदेल राजाओं ने कराया। इन मंदिरों के शिखर बहुत ही भव्य और परिष्कृत हैं और वे पत्थरों की कृतियों से सुसज्जित हैं। इन शिखरों की शैली दूसरे मंदिरों के शिखरों से भिन्न है। कोणार्क और खजुराहो की शिल्प-कलाएँ भारत की श्रेष्ठतम शिल्प-कलाओं में गिनी जाती हैं। वे जीवन और शक्ति से भरपूर लगती हैं।

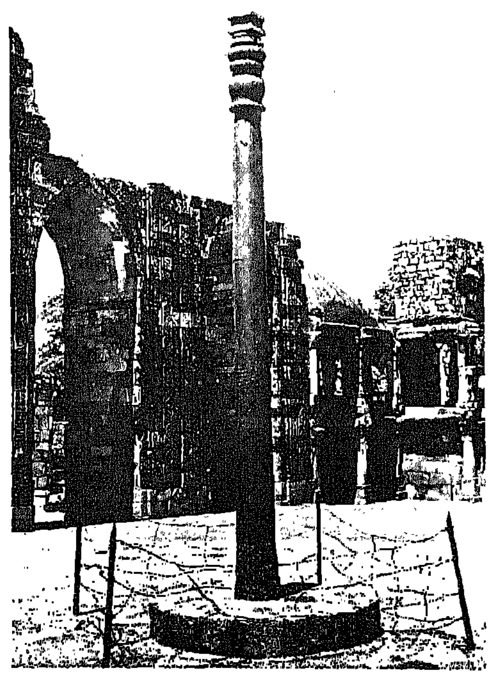
माउंट आबू के जैन मंदिर गुजरात के सोलंकी शासकों के श्रेष्ठतम स्मारक हैं। वे भी कला के महान संरक्षक थे। खूब फलते-फूलते व्यापार से जो धन प्राप्त होता था उसका उपयोग हिंदू और जैन मंदिरों के निर्माण में किया गया। सफेद संगमरमर को बारीकी से तराशकर बनाई गई कलाकृतियों के कारण आबू के मंदिर बहुत ही आकर्षक हैं।

मध्यकालीन वास्तुकला और अन्य कलाओं में नए तत्वों का समावेश

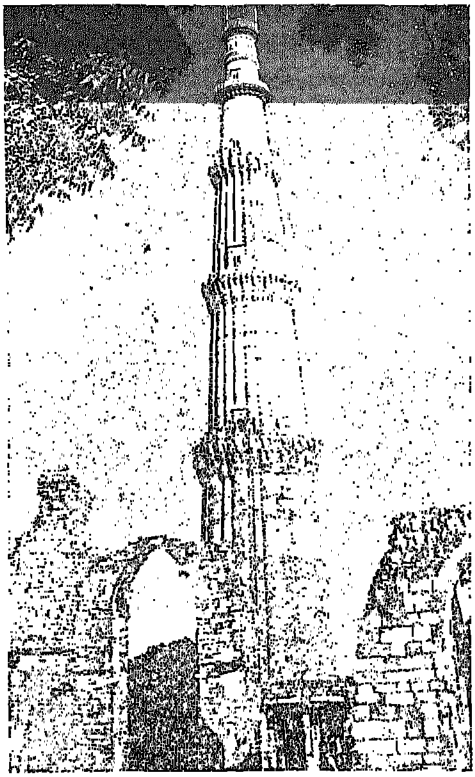
तुर्कों के भारत में आने के बाद भारतीय वास्तुकला का नया युग आरंभ हुआ। ईरान, अरब और मध्य एशिया में वास्तुकला संबंधी जो विचार विकसित हुए थे, उन्हें तुर्क अपने साथ यहाँ लाए। जब इन शासकों ने महलों और मस्जिदों जैसी लौकिक या धार्मिक इमारतों का निर्माण कराना शुरू किया तो उनका संपर्क भारत में पहले से विकसित परंपराओं से हुआ। इन दो परंपराओं के समन्वय से वास्तुकला की नई शैलियाँ विकसित हुईं। सल्तनत के शासक वास्तुकला के महान संरक्षक थे और उनके संरक्षण में समन्वय की यह प्रक्रिया आरंभ हुई। फिर अनेक क्षेत्रीय परिवर्तनों के साथ यह अनेक राज्यों में जारी रही। मुग़ल काल में समन्वय की यह प्रक्रिया खूब फली-फूली और इस काल में भारत के कुछ महानतम स्मारकों का निर्माण हुआ और दोनों परंपराओं के मेल से एक अनोखी भारतीय शैली का विकास हुआ।

इस विकास का वर्णन करने से पहले बेहतर यह होगा कि हम इस्लामी वास्तुकला की उन खास विशेषताओं को समझें, जिन्होंने वास्तुकला की नई शैली के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

इन विशेषताओं को हम मस्जिदों और मकबरों की मानक वास्तुकला में स्पष्ट देख सकते हैं। मस्जिद में एक विशाल, आयताकार और खुला आँगन होता है जिसके चारों तरफ छतरीदार रास्ता होता है। नमाज के लिए किस ओर मुँह करें, इसका पता वह मेहराब देती है जो मक्का की ओर होती है। नमाज के लिए अजान किसी ऊँची मीनार से दी जाती है। कुछ मस्जिदों में कई मीनार होते हैं। मस्जिद की एक और विशेषता प्रवेश द्वार तथा अन्य स्थानों पर बने मेहराब होते हैं। गुंबद, मस्जिद या मकबरे की एक और प्रमुख विशेषता होती है। दीवारों पर ज्यामितीय आकारें बनाकर या सुंदर ढंग से अक्षर खोदकर इन इमारतों को सजाया जाता है। इनमें से कुछ विशेषताएँ भारतीय वास्तुकला के लिए नई थीं। प्राचीन भारतीय इमारतें सुंदर तस्वीरों और आकृतियों को खोदकर सजाई जाती थीं, जबकि मुस्लिम इमारतें सादी और सजावट से खाली होती थीं। जब



कुव्वतुल-इस्लाम मस्जिद, दिल्ली, की एक मेहराब। सामने गुप्तकाल का लौह स्तंभ दिखाई पड़ रहा है।



कुतुब मीनार, दिल्ली

नई इमारतों का निर्माण-कार्य आरंभ हुआ तो इन दोनों शैलियों के मेल से नई और अनोखी शैली विकसित हुई।

सल्तनतकाल की वास्तुकला

तुर्क शासकों ने स्थानीय कारीगरों की सेवाएँ लीं जो अपने कला-कौशल के लिए दुनिया भर में मशहूर थे। इन कारीगरों ने जो समन्वित शैली विकसित की उसमें इस्लामी वास्तुकला की शुद्ध सादगी को भी छोड़ दिया गया और प्राचीन भारतीय वास्तुकला की अत्यंत अलंकृत शैली को भी।

कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा दिल्ली और अजमेर मे बनवाई गई मस्जिदें सल्तनत काल की सबसे पहली इमारतें हैं। दिल्ली की इस मस्जिद को कुव्वतुल-इस्लाम मस्जिद कहते हैं। यह 70 मीटर लंबी और 30 मीटर चौड़ी है। इस मस्जिद की केंद्रीय मेहराब खूबसूरती से काढ़े गए अक्षरों से सजाई गई थी। वह सजावट आज भी मौजूद है। यह 17 मीटर ऊँची और लगभग 7 मीटर चौड़ी है।

कुतुबुद्दीन के उत्तराधिकारी इल्तुतमिश ने भी अनेक इमारतें बनवाई। उसने इस मस्जिद को और फैलाया। उसने कुतुबमीनार को भी पूरा कराया जिसको कुतुबद्दीन ने बनवाना शुरू किया था और जो अब मस्जिद के विस्तृत सेहन में आ गया। यह लगभग 70 मीटर ऊँचा मीनार है। भारत के प्रसिद्धतम स्मारकों में इसकी गिनती की जाती है।

कुछ अहम इमारतें अलाउद्दीन खलजी के काल में भी बनीं। उसने कुव्वतुल-इस्लाम मस्जिद को और भी फैलाया और मस्जिद की बाहरी दीवार में एक दरवाजा बनवाया जिसे अलाई दरवाजा कहा जाता है। पूरी इमारत को सुंदर बनाने के लिए अलंकरणों का सहारा लिया गया। उसने एक और मीनार बनवाना शुरू किया। वह चाहता था कि यह नया मीनार कुतुबमीनार से दोगुना ऊँचा हो, मगर उसका सपना पूरा न हो सका।

खलजियों के बाद तुगलकों का शासन आया। उन्होंने दिल्ली में नए शहर (जैसे तुगलकाबाद, जहाँपनाह और फिरोजाबाद) बसाने पर जोर दिया। उन्होंने अनेक नई इमारतें बनवाई जो शैली में पहले की इमारतों से भिन्न थीं। गयासुद्दीन तुगलक का मकबरा और तुगलकाबाद जैसी भारी-भरकम और मजबूत इमारतें बनवाई गईं। वास्तुकला के विकास की दृष्टि से तुगलक काल की इमारतें बहुत महत्वपूर्ण हैं। वे सुंदर तो न थीं पर भारी-भरकम और प्रभावशाली हैं।

क्षेत्रीय राज्यों की वास्तुकला

पहले की उपलब्धियों का लाभ उठाते हुए क्षेत्रीय राज्यों ने वास्तुकला की अपनी विशिष्ट शैलियाँ विकसित कीं। समन्वय की प्रक्रिया इन राज्यों में भी जारी रही और इससे कुछ अत्यंत सुंदर इमारतों का भारत में निर्माण हुआ।

बंगाल के पंडुआ नामक स्थान पर अदीना मस्जिद और जलालुद्दीन मुहम्मद शाह के मकबरे का और गौड़ नामक स्थान पर दाखिल दरवाजा और तांतीपाड़ा मस्जिद का निर्माण हुआ। अनेक इमारतों की आयताकार रचना और छतों की एक विशिष्ट शैली बंगाल की क्षेत्रीय वास्तुकला की कुछ प्रमुख विशेषताएँ हैं।

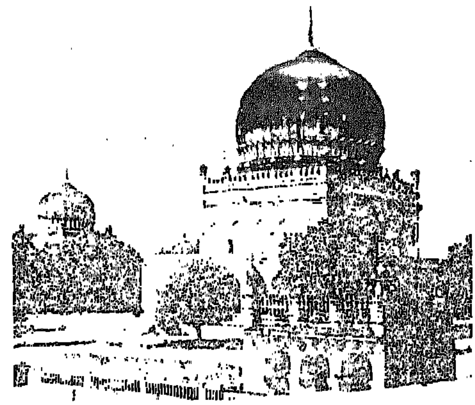
जौनपुर में शर्की सुल्तानों ने अटाला मस्जिद बनवाई जो एक भव्य इमारत है। एक विशालकाय जाली इसके पूरे गुंबद को पूरी तरह ढके हुए है। दीवारों और छतों को अनेक भारतीय आकृतियों, जैसे कमल, से सजाया गया है।

गुजरात के शासकों ने भी अनेक ऐसी इमारतें बनवाईं जो अपनी नक्काशी और कामदारी के लिए मशहूर हैं। अहमदाबाद को बसाने वाले अहमदशाह ने तीन दरवाजा और जामी मस्जिद का निर्माण कराया। अहमदाबाद की सबसे सुंदर इमारत सादी सैयद मस्जिद है, जिसे आमतौर पर जाली वाली मस्जिद कहते हैं। इसकी बारीक कारीगरी इसके झरोखों से ही स्पष्ट है। चम्पनेर में महमूद बेगड़ा ने प्रभावशाली जामा मस्जिद का निर्माण कराया।

मालवा के सुल्तानों के संरक्षण में बनी मांडू की इमारतों की अपनी विशिष्ट शैली है। यहाँ जामा मस्जिद, हिंडोला महल, जहाज महल और अनेक मकबरों का निर्माण हुआ। मालवा की इमारतों में विशाल और प्रभावशाली मेहराबें हैं और उनकी खिड़कियाँ खूब नक्काशीदार हैं। होशंगशाह का मकबरा पूरी तरह संगमरमर की बनी पहली भारतीय इमारत है। इसे पीले और काले संगमरमर की सुंदर पच्चीकारी करके बनाया गया है।

कश्मीर के शासकों ने भी अनेक सुंदर इमारतें बनवाईं। जैनुल-आबदीन की पूरी कराई जामा मस्जिद में इमारती लकड़ी, पत्थरों और ईटों का प्रयोग किया गया है। कंगूरे (बुर्ज) कश्मीर की मस्जिदों की विशेषता है और उन्हें देखकर बौद्ध पगोडों की याद आती है। जैनुल-आबदीन की माँ का मकबरा पूरी तरह ईंटों और पालिशदार टाइलों से बना है। इसका निर्माण ईरानी शैली में किया गया है।

दक्कन के बहमनी सुल्तानों ने बीदर और गुलबर्गा में अनेक इमारतें बनवाईं, जिनकी शैली विशिष्ट है। इसमें ईरान, सीरिया, तुर्की और दक्षिण भारत की शैलियाँ अपनाई गई हैं। गुलबर्गा की जामा मस्जिद बहुत मशहूर है। इस मस्जिद का सेहन अनेक गुंबदों से ढका हुआ है। यह भारत की अकेली मस्जिद है जिसका सेहन ढका हुआ है। मीनारों की जगह इसके चार कोनों पर गुंबद हैं, और एक पाँचवा गुंबद, जो बाकी गुंबदों से बड़ा है, नमाज के कक्ष के ऊपर है। नक्काशी के न होने से इसकी भव्यता कुछ कम नहीं होती। यहाँ मकबरों के दो समूह हैं। पहले समूह में पहले



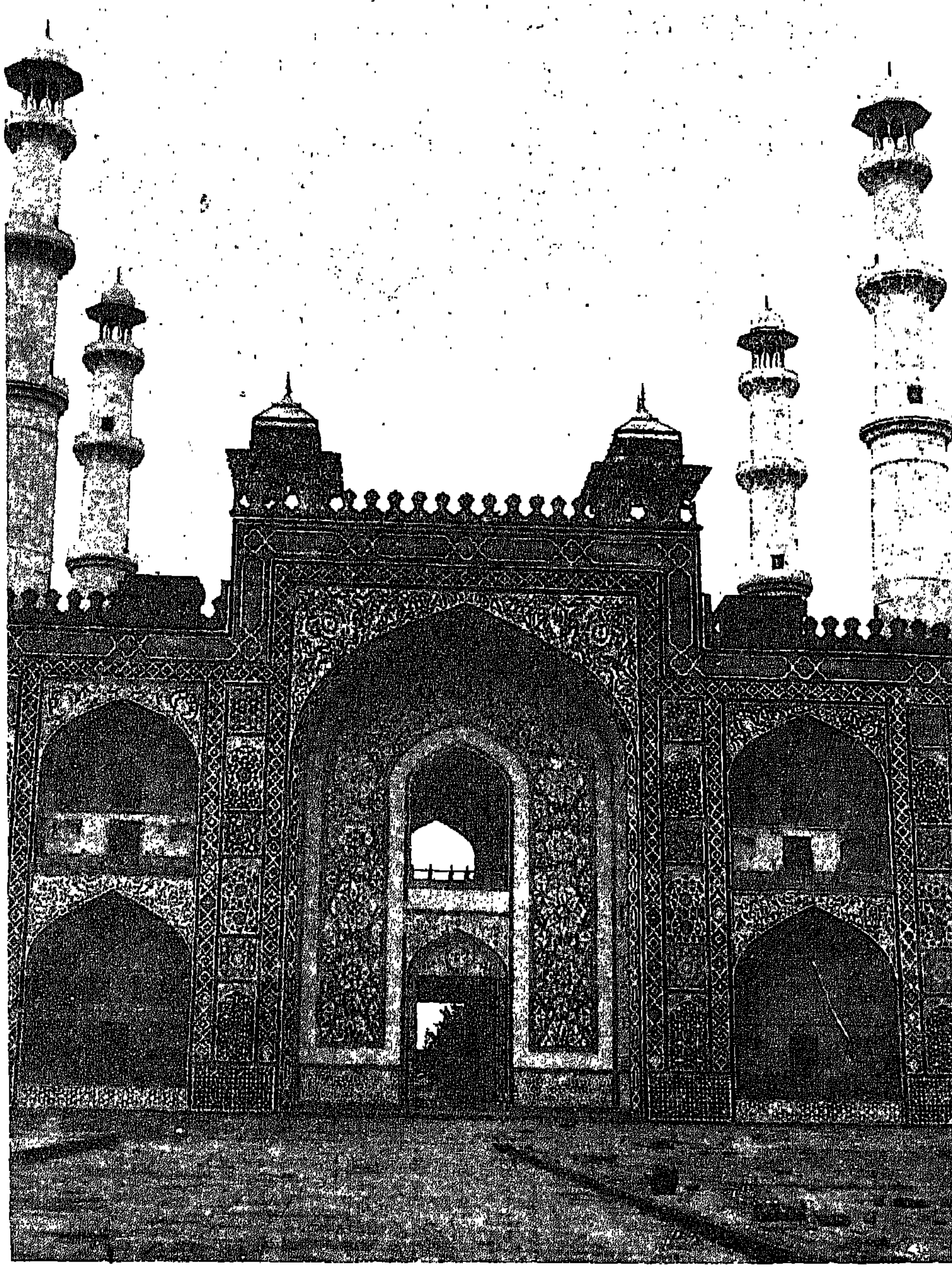
गोल गुम्बज़

दो सुल्तानों के मकबरे हैं और इसमें तुगलक कालीन वास्तुकला का प्रभाव झलकता है। "हफ़्त गुंबद" (सात गुंबद) कहे जाने वाले दूसरे समूह में ईरानी और प्राचीन भारतीय शैलियों का प्रभाव दिखाई देता है। बीदर में भी अनेक मकबरे हैं। सुल्तान अहमदशाह वली का मकबरा अनेक सुंदर चित्रों से सजा हुआ है। बीदर की सबसे सुंदर इमारत महमूद गावाँ का मदरसा है, जो अनेक वर्षों तक बहमनी सल्तनत का मंत्री रहा था। यह एक तिमंजिली इमारत है और इसके सामने के दो कोनों पर दो ऊँची मीनारें हैं।

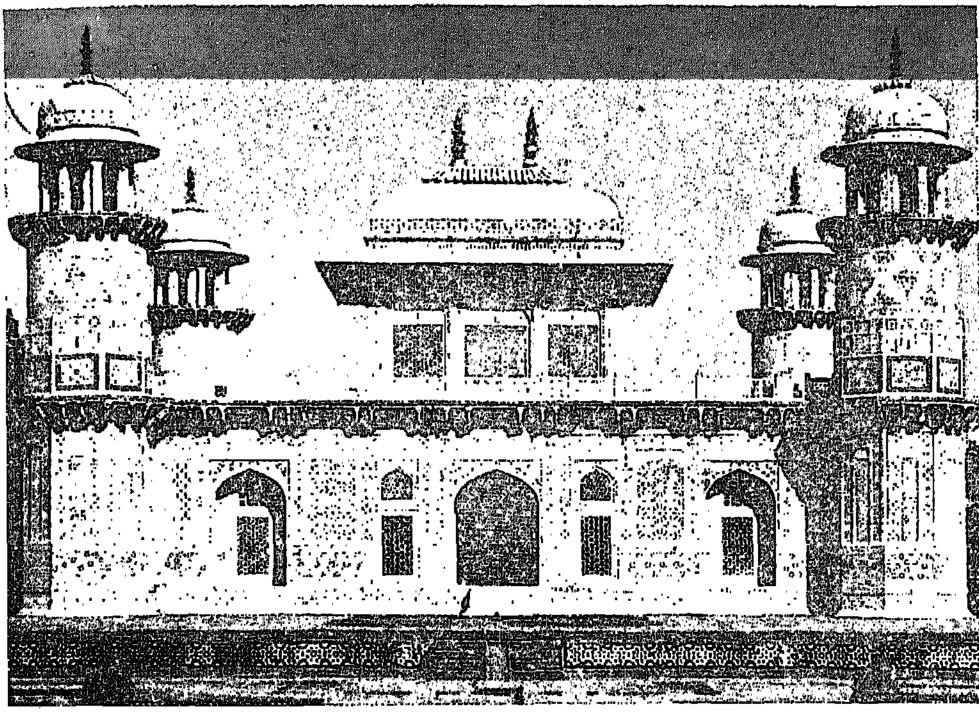
बहमनी सल्तनत के बिखरने के बाद नए शासकों ने मेहतर महल और इब्राहीम रौजा जैसी अनेक इमारतें बनवाईं। बीजापुर का गोलगुंबद दुनिया के सबसे बड़े गुंबदों में एक है, और गोलकुंडा का किला भारत के सबसे मजबूत किलों में से एक है। यह और गोलकुंडा के अनेक मकबरे इसी काल में बने।

उत्तर और दक्षिण भारत के इन क्षेत्रीय राज्यों ने एक साझी संस्कृति के विकास में अहम भूमिका अदा की है।

दक्षिण में विजयनगर का साम्राज्य 14 वीं सदी में स्थापित और 1565 में नष्ट हुआ था। वास्तुकला के क्षेत्र में उसकी भी अनेक उपलब्धियाँ हैं। इसकी भव्यता का पता आज केवल



अकबर का मकबरा, सिकंदरा



एतमादुद्दौला का मकबरा, आगरा

इसके खंडहर देते हैं। विजयनगर की वास्तुकला के सबसे अच्छे उदाहरण हैं– हंपी के विट्ठलस्वामी और हजार-राम मंदिर। पहले मंदिर में तीन गोपुरम और अनेक खूब नक्काशीदार खंभे हैं। दूसरे में खंभों पर और अंदरूनी दीवारों पर अच्छी नक्काशी की गई है तथा उन पर रामायण के दृश्य अंकित हैं।

मुग़लकालीन वास्तुकला

समन्वय की प्रक्रिया मुगल शासन में पूरी हुई और जो नई वास्तुकला सल्तनत काल में विकसित होनी शुरू हुई थी, वह अब अपने वैभव की चरम सीमा पर जा पहुँची। वास्तुकला और दूसरे क्षेत्रों में मुग़लकाल की उपलब्धियाँ सर्वश्रेष्ठ हैं और पहले के किसी भी युग के मुकाबले इनको रखा जा सकता है।

पहले दो मुग़ल, सम्राटों, बाबर और हुमायूँ ने ईरानी वास्तुकारों की मदद से अनेक इमारतें बनवाई। ये इमारतें जो अब खंडहर बन चुकी हैं, बहुत प्रभावशाली नहीं हैं। अफगान शासक शेरशाह सूरी की ताकत के बढ़ जाने पर हुमायूँ को देश छोड़कर भागना पड़ा था। हुमायूँ दोबारा सत्ता पाकर फिर से मुगल शासन स्थापित कर सके, इससे पहले कुछ वर्षों तक अफ़गान शासन देश में रहा। इस बीच के काल की सबसे महत्वपूर्ण इमारत सासाराम स्थित शेरशाह का मकबरा है। एक तालाब के बीच में खड़े इस मकबरे की नापजोख बहुत सटीक है।

सही अर्थों में मुग़ल वास्तुकला का आरंभ अकबर के काल में हुआ। इस काल की सबसे महत्वपूर्ण इमारत दिल्ली स्थित हुमायूँ का मकबरा है। यह एक भव्य मकबरा है। इस पर और खासकर इसके गुंबद पर ईरानी प्रभाव बहुत ही स्पष्ट है। मगर ईरानियों की तरह ईंटों और पालिशदार टाइलों का इस्तेमाल करने की जगह इस मकबरे को बनाने

वाले भारतीय कारीगरों ने पत्थरों और संगमरमर का इस्तेमाल किया है। मुगल वास्तुकला की दो प्रमुख विशेषताएँ इसमें भी स्पष्ट हैं। ये हैं–बड़े प्रवेश द्वार तथा पूरी इमारत का एक बड़े बाग में स्थित होना। बाद में ताजमहल बनाने वालों ने इस मकबरे से अनेक वास्तुकला संबंधी विचार लिए।

आगरा और लाहौर के किले अकबर द्वारा बनवाई गई दूसरी प्रमुख इमारतें हैं। उसने अपना महल आगरा के किले के अंदर बनवाया। किले में अनेक नई इमारतें बनवाई गईं। अकबर के उत्तराधिकारियों ने किले के अंदर कई इमारतों में फेर-बदल भी कराया फिर भी जो इमारतें अकबर के नाम से जुड़ी हैं, उनमें प्राचीन भारतीय शैली का अत्यधिक प्रभाव दिखाई देता है। आँगन और खंभे इन इमारतों में भी हैं। इस शैली की वास्तुकला में पहली बार कोनियों (ब्रैकेट्स) में हाथियों, शेरों, मोरों और दूसरे परिंदों जैसे सजीव प्राणियों का चित्रण किया गया।

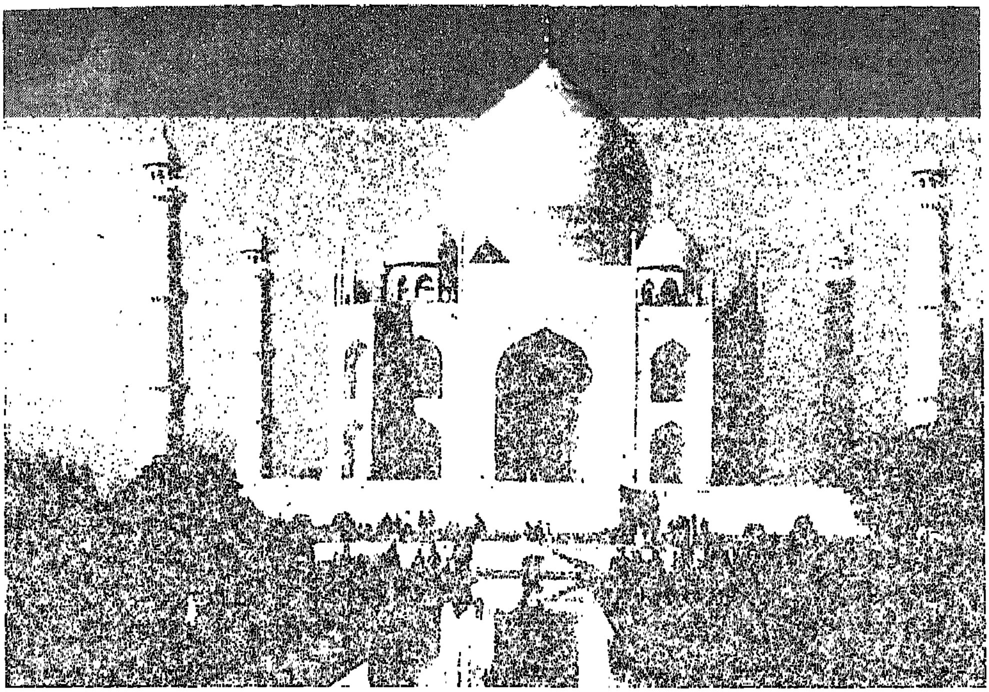
अकबर के काल की सबसे बड़ी उपलब्धि है– आगरा से लगभग 40 किलोमीटर दूर फतेहपुर सीकरी में एक नई राजधानी का निर्माण। फतेहपुर सीकरी की इमारतें अनेक शैलियों में बनी हैं जिनसे यह विश्व की भव्यतम राजधानियों में एक बन गई। इसका घेरा 10 किलोमीटर से अधिक का है। फतेहपुर सीकरी में आज भी अनेक भव्य इमारतें खड़ी हैं। बुलंद दरवाजा की मेहराब लगभग 41 मीटर चौड़ी और लगभग 50 मीटर ऊँची है। यह दुनिया का संभवत: सबसे प्रभावशाली दरवाजा है। जिस इमारत को जोधाबाई का महल कहा जाता है, वह प्राचीन भारतीय शैली में बनी है। जामा मस्जिद में ईरानी प्रभाव दिखाई देता है। इसके चारों ओर जो उपासना गृह है, उसमें अनेक कमरे हैं और ऊपर अनेक गुंबद हैं। दीवाने-आम और दीवाने-ख़ास उल्लेखनीय इमारतें हैं। उनकी योजना तथा उनका अलंकरण, सभी विशिष्ट भारतीय शैली में हैं। बीरबल का महल खूबसूरत डिजाइनों से अच्छी तरह सजा हुआ है। एक और प्रमुख इमारत है–इबादत खाना (प्रार्थना घर)। अनेक धर्मों के विद्वान यहाँ जमा होकर सम्राट की मौजूदगी में दर्शन और धर्म के प्रश्नों पर वाद-विवाद किया करते थे। पाँच मंजिलों वाले पंचमहल का निर्माण संभवत: बौद्ध पगोडों की तर्ज पर हुआ है।



आगरा के किले का प्रवेश द्वार

सिकंदरा स्थित अकबर का मकबरा जिसका निर्माण अकबर ने शुरू करवाया था, जहाँगीर के शासन में पूरा हुआ। यह इमारत अनेक दृष्टियों से भव्य है। एक लंबे समय के बाद इस इमारत में मीनार को उसका खोया हुआ महत्व वापस मिला। मकबरे की मेहराबें और गुंबद बहुत खूबसूरत हैं। मगर जैसा कि फर्गूसन का विचार है, पूरी इमारत पर बौद्ध विहारों का प्रभाव है। आगरा के किले में जहाँगीर ने कुछ और महल बनवाए। उसने नूरजहाँ के पिता एतमादुद्दौला का सुंदर मकबरा भी बनवाया। संगमरमर का बना यह मकबरा रंगीन पच्चीकारी के खूबसूरत काम के लिए मशहूर है। जहाँगीर के लिए उसकी पत्नी नूरजहाँ ने लाहौर के नजदीक शाहदरा में एक खूबसूरत मकबरा बनवाया।

मुगलों में भवन-निर्माण का सबसे बड़ा प्रेमी था –



ताजमहल, आगरा

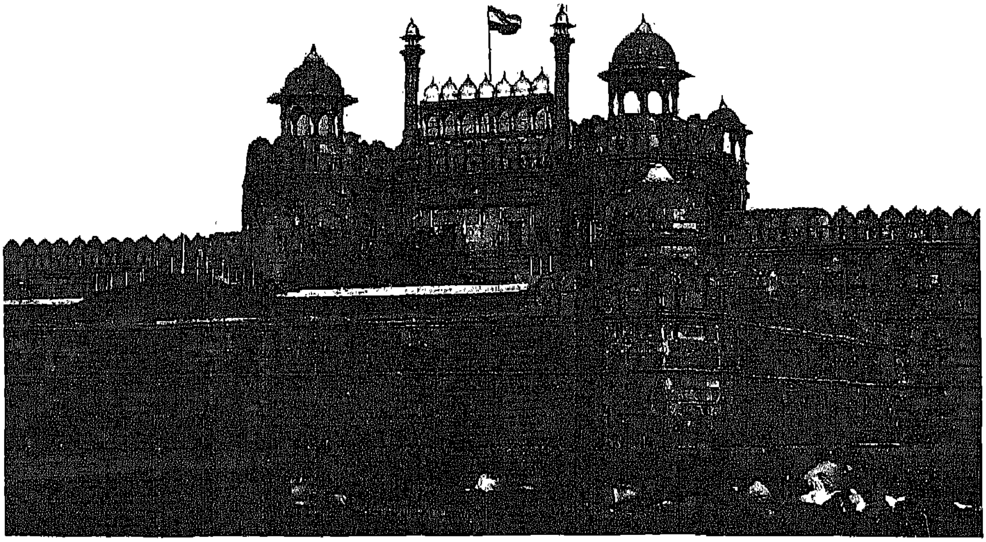
शाहजहाँ, जो जहाँगीर का बेटा और उत्तराधिकारी थे। उसके शासन में मुगल वास्तुकला का सबसे अधिक विकास हुआ। देश की कुछ सबसे शानदार इमारतें उसी के शासन काल में बनीं। उसके जमाने में संगमरमर का, बारीकी नक्काशी के कामों का, तरह-तरह की मेहराबों और खूबसूरत मीनारों का दिल खोलकर इस्तेमाल किया गया। शाहजहाँ की इमारतों की सूची बहुत लंबी है। उसने आगरा के किले की अनेक इमारतों को पूरा कराया। शाहजहानाबाद (पुरानी दिल्ली) नामक नगर बसाया। लाल किला बनवाया और उसके अंदर अनेक इमारतें भी बनवाईं। दिल्ली की जामा मस्जिद, आगरे का ताजमहल और कई इमारतें भी उसी की बनवाई हुई हैं। यहाँ इन इमारतों का केवल संक्षिप्त वर्णन ही हम कर सकते हैं। आगरे के किले के दीवाने-आम, दीवाने-ख़ास और मोती मस्जिद मुख्यतः सफेद संगमरमर के बने हैं और उनमें रंगीन पच्चीकारी का खूबसूरत काम किया गया है। लाल किले में स्थित दीवाने-आम और दीवाने-ख़ास खूब सुसज्जित और सुंदरता के नमूने हैं। दीवाने-खास में फ़ारसी की यह उक्ति दर्ज है जो बहुत ही सही है:

"अगर फ़िरदौस बर-रूए-जमीं अस्त,
हमीं अस्तो, हमीं अस्तो, हमीं अस्त।"

(अगर धरती पर कहीं स्वर्ग है तो वह यहीं है, यहीं है, यहीं है।)

पिछले 350 वर्षों में लाल किला हमारे देश के इतिहास का एक अभिन्न अंग बना रहा है। जिस दिन देश आज़ाद हुआ उस दिन हमारा राष्ट्रीय झंडा यहीं लहराया गया था। दिल्ली की जामा मस्जिद विशाल गुंबदों और मीनारों वाली इमारत है। यह देश की सबसे प्रसिद्ध मस्जिद है और दुनिया में इसकी सुंदरता की कम मिसालें हैं।

शाहजहाँ की बनवाई सबसे भव्य इमारत है–



दिल्ली का लाल किला

ताजमहल। इसे उसने अपनी पत्नी मुमताज महल की याद में बनवाया था। भारत की वास्तुकला ताजमहल में पूर्णता के शिखर पर पहुँची दिखाई देती है। ताज्जुब नहीं कि इसे "संगमरमर का बना हुआ एक स्वप्न" कहा जाता है। इसकी कल्पना बहुत सुंदर है। प्रवेशद्वार, मध्य भाग का गुंबद, शानदान मीनारें, बारीक नक्काशी, संगमरमर के रंगीन टुकड़ों और कीमती पत्थरों की खूबसूरत पच्चीकारी, चारों तरफ स्थित खूबसूरत बाग और सामने के फव्वारे – ताजमहल के सभी भाग पूर्णता का संकेत देते हैं।

अंतिम महान मुग़ल बादशाह था–औरंगजेब। उसके शासन की उल्लेखनीय इमारतें केवल लाहौर की बादशाही मस्जिद और दिल्ली की मोती मस्जिद है। उसके बाद का दौर आमतौर पर पतन का दौर है।

मुग़ल बादशाहों और खासकर जहाँगीर का एक महत्वपूर्ण योगदान है–बागों को खड़ा करना। लाहौर और श्रीनगर में उसनें कुछ खूबसूरत बाग़ लगवाए।

वास्तुकला की इस नई शैली का इस काल में राजपूतों द्वारा बनवाए गए हिन्दू मंदिरों और लौकिक इमारतों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा।

भारत में चित्रकला का विकास

वास्तुकला की तरह चित्रकला के क्षेत्र में भी भारत की सांस्कृतिक धरोहर बहुत ही समृद्ध है। चित्रकला में पहला और सबसे अधिक सर्जनात्मक काल ईसा की पहली सदी से लेकर सातवीं सदी तक का है। इसमें सबसे समृद्ध धरोहर अजंता की चित्रकला की है। अजंता की दीवारों पर पहले बहुत खूबसूरत भित्ति-चित्र (म्यूरल) हुआ करते थे जिन में से कई ठीक रखरखाव न होने के कारण और समय के प्रभाव से नष्ट हो गए।

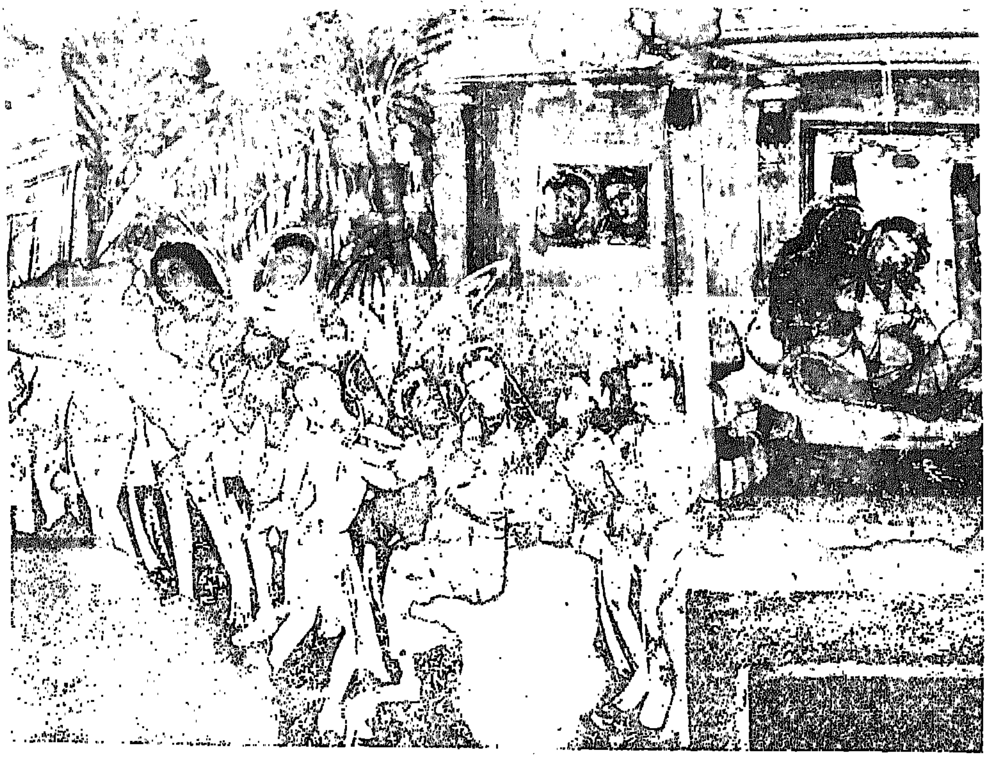
अजंता के चित्रों में विभिन्न विषयों को दर्शाया गया है। इनमें शाही दरबारों की शान-शौकत, प्रेम की क्रीड़ाएँ, भोज-गान-नृत्य के आनंद, भोग-विलास की मानव निर्मित वस्तुएँ, इमारतें, वस्त्र और आभूषण दिखाए गए हैं। कुछ चित्रों में हरियाली और फूल, पशु-पक्षी, आदि प्राकृतिक वस्तुओं को दर्शाया गया है। बुद्ध के जीवन और जातक-कथाओं से भी अनेक विषय लिए गए हैं। ये सभी दृश्य बहुत ही सजीव हैं। चित्रों को कुशलतापूर्वक बनाया गया है। जीवन के सभी रूपों को दर्शाकर जीवन की एकता



अंजता की चित्रकारी–बोधिसत्व

का संदेश दिया गया है। जीवन के सभी रूपों को कलाकार ने समान महत्व दिया है और चित्रकला के सभी रूप मिलकर वास्तविक जीवन की एक भरपूर तस्वीर पेश करते हैं। यह सब काम रेखाओं के माध्यम से किया गया है। पश्चिम में जो काम रंग के द्वारा किया गया, वहीं भारत में रेखाओं के द्वारा किया गया है। अजंता के कलाकारों द्वारा खींची गई रेखाएँ बेमिसाल हैं और एक संतुलित उतार-चढ़ाव के साथ वे एक विस्तृत क्षेत्र को समेटती हैं। इनके द्वारा शांतचित्त बुद्ध का और किसी नृत्य या किसी बाजार में मौजूद बेचैन भीड़ का चित्रण समान कुशलता के साथ किया गया है। प्राचीन काल में ही यह शैली मध्य एशिया तक भी फैली। ये वहाँ के भित्ति-चित्रों और लकड़ी के पैनलों में बने चित्रों से स्पष्ट होता है।

उत्तरी भारत में बाघ के भित्ति-चित्र आज भी विद्यमान



महल का दृश्य, अजंता का चित्रकारी

हैं। ये अत्यंत सुंदर हैं। शेष भित्ति-चित्रों में से अधिकांश नष्ट हो चुके हैं। भारत के दूसरे भागों, मिसाल के लिए बादामी, कांची और एलोरा में, चित्रकला की परंपरा कुछ समय तक जारी रही। बाद में इसका प्रसार श्रीलंका तक हुआ। वहाँ सिगिरिया के सुंदर भित्ति-चित्रों में अंजता की परंपरा से सीधा संबंध दिखाई देता है।

भित्ति-चित्रों की कला धीरे-धीरे नष्ट हो गई फिर भी पुस्तकों, खासकर जैन धर्मग्रन्थों को चित्रों से सुसज्जित करने की परंपरा जारी रही।

चित्रकला का दूसरा महान युग मुग़लों के शासन काल में आरंभ हुआ। मुग़ल अपने साथ ईरानी चित्रकला की परंपरा यहाँ ले आए थे। हुमायूँ अपने साथ प्रसिद्ध चित्रकार वहजाद के दो शिष्यों को ईरान से ले आया। उनका भारत के चित्रकारों से संपर्क हुआ और अकबर के शासन में इन दोनों शैलियों के समन्वय को और बढ़ावा मिला। उसने ईरान, कश्मीर और गुजरात से अनेक चित्रकार बुलवाए। अब्दुस्समद, मीर सैयद अली, मिस्कीन, दसवंत, बसावन, मुकुंद और अनेक दूसरे चित्रकारों का हवाला "आइने-अकबरी" में मिलता है। उन्होंने "दास्ताने-अमीर हम्ज़ा" और "बाबर नामा" जैसी अनेक पुस्तकों को चित्रों से सजाया। चित्रकारों ने अलग चित्र भी बनाए। अकबर का काल समाप्त होने तक चित्रकला की एक स्वतंत्र मुगल शैली विकसित हो चुकी थी।

जहाँगीर स्वयं चित्रकला का एक महान गुणग्राहक और संरक्षक था। उसके शासन में मुगल चित्रकला का पूरा विकास हुआ। चित्रकला अब पुस्तकों को सजाने तक ही सीमित नहीं रही। व्यक्ति-चित्र तथा जीवन और प्रकृति के विषयों पर बनाए गए चित्र लोकप्रिय हुए। नादिर, मुराद,

विशनदास, मनोहर, गोवर्धन, मंसूर और फ़ारूख बेग़ इस दौर के कुछ उच्च कोटि के चित्रकार थे। अपनी आत्मकथा में अपने चित्रकला संबंधी ज्ञान के बारे में जहाँगीर ने लिखा है कि अगर कोई तस्वीर कई चित्रकारों ने मिलकर बनाई हो तो भी वह उसमें हरेक चित्रकार के काम को अलग-अलग पहचान सकता है। भारतीय चित्रकारों की क्षमता कुशलता का पता एक घटना से चलता है जिसका वर्णन जहाँगीर के दरबार में आए सरटामस रो ने किया है। रो ने जहाँगीर को जो चित्र उपहारस्वरूप दिया था, उसकी उसी दिन अनेक नकलें दरबार के अनेक चित्रकारों ने तैयार कीं। ये नकलें इतनी सटीक थीं कि रो के लिए मूलचित्र को पहचान सकना असंभव हो गया।

इस तरह कुछ ही दशकों के अंदर चित्रकला के अनेक शानदार नमूने सामने आए। इस कला का विकास शाहजहाँ के शासन में भी जारी रहा जो स्वयं इसका एक महान संरक्षक था। औरंगजेब के शासन में मुग़ल दरबार से इस कला का प्रचलन उठ गया।

दरबार का संरक्षण मिलना बंद हो जाने के बाद अनेक चित्रकार देश के कई भागों में चले गए और उनके प्रभाव से चित्रकला की नई शैलियाँ विकसित हुईं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण हैं—राजस्थानी और पहाड़ी शैलियाँ। इन शैलियों के चित्रों के विषय महाकाव्यों, मिथकों, दंतकथाओं और प्रेम-प्रसंगों से लिए गए हैं।

भाषा और साहित्य

भाषा और साहित्य के क्षेत्र में भारत की धरोहर बहुत ही समृद्ध है। भारत के इतिहास में अनेक सदियों के दौरान अनेक भाषाओं का विकास हुआ और उन्होंने एक दूसरे को प्रभावित किया। प्राचीन भारत में बोली जाने वाली कुछ भाषाएँ, जिनका साहित्य बहुत ही समृद्ध था, लुप्त हो चुकी हैं, मगर कुछ दूसरी भाषाओं का महत्व अभी भी बना हुआ है। उदाहरण के लिए संस्कृत अब बोलचाल की भाषा नहीं रही है मगर अनेक धार्मिक कार्यों तथा साहित्य की भाषा वह अभी भी है। जो भाषाएँ आज हम बोलते हैं उन पर भी संस्कृत का प्रभाव पड़ा है। आज की इन भाषाओं का विकास प्राचीनकाल के अंतिम भाग में आरंभ हुआ। आज इन भाषाओं के पास बहुत ही समृद्ध साहित्य है।

भाषाएँ

भारत में छोटे-छोटे अनेक भाषा-समूहों के अलावा दो मुख्य भाषा-समूह हैं—हिंद-यूरोपीय या हिंद-आर्याई और द्रविड़। उत्तरी भारत की अधिकांश भाषाएँ पहले समूह में आती हैं, जबकि दक्षिण भारत की भाषाएँ दूसरे समूह में। मगर इन दोनों समूहों का विकास एक दूसरे से अलग रहकर नहीं हुआ।

आपने उस हड़प्पा लिपि के बार में पढ़ा है, जिसे अभी तक समझा नहीं जा सका है। हमें यह भी नहीं पता है कि हड़प्पावासी कौन-सी भाषा बोलते थे। भारत में आने वाले आर्यों की भाषा संस्कृत थी और वह हिंद-यूरोपीय समूह की भाषा है। धीरे-धीरे संस्कृत का मानकीकरण हुआ। महान वैयाकरण पाणिनी ने उसका एक अत्यधिक वैज्ञानिक व्याकरण तैयार किया। यह ईसा-पूर्व चौथी सदी की बात है। संस्कृत धर्म, दर्शन और ज्ञान-विज्ञान की भाषा थी और उच्च वर्गों के लोग, ब्राह्मण और क्षत्रिय, इसका प्रयोग करते थे। साधारण जनता अनेक बोलियाँ बोलती थी, जिन्हें प्राकृत कहते हैं। आपको पता है कि बुद्ध ने अपने उपदेश जनता की भाषा में दिए। बौद्ध साहित्य पाली में लिखा गया जो एक प्राकृत बोली थी। अशोक के शिलालेख जनता की भाषाओं में ही लिखे गए।

द्रविड़ भाषाओं में सबसे पुरानी तमिल है। दूसरी द्रविड़ भाषाओं का विकास ईसवी संवत के पहले एक हजार वर्षों में हुआ।

हालाँकि संस्कृत गुप्तकाल में फिर से एक बार ज्ञान-विज्ञान की भाषा बन गई पर प्राकृत बोलियों का विकास होता रहा। अनेक बोलियाँ जो अब विकसित हुईं, उन्हें अपभ्रंश कहा जाता है। ये बोलियाँ मध्यकाल में विभिन्न क्षेत्रों में विकसित होने वाली आधुनिक भारतीय भाषाओं का आधार बनीं।

आप पढ़ चुके हैं कि तुर्कों और मुग़लों के शासन-काल में दो नई भाषाएँ, अरबी और फ़ारसी, भारत में प्रचलित हुईं। इनमें फ़ारसी का महत्व अधिक है। यह सैकड़ों वर्षों तक राजदरबार की भाषा रही और उन्नीसवीं सदी तक इसका प्रयोग होता रहा। इस काल में भारत में फ़ारसी

साहित्य का विकास हुआ। इसी काल में उर्दू नामक एक नई भाषा का विकास हुआ। यह भाषा हिन्दी की बोलियों पर आधारित थी और इसका शब्दकोश बहुत कुछ फारसी से आया है। यह पूरे उत्तर भारत और दक्कन के नगरों की आम भाषा बन गई। गद्य और पद्य में इसका बहुत ही समृद्ध साहित्य विकसित हुआ।

भारतीय भाषाओं के विकास में अनेक विदेशी भाषाओं की एक प्रमुख भूमिका रही है और उन्होंने भारतीय भाषाओं को समृद्ध बनाया है। यह सब अनेक गैर-भारतीय जनगणों की संस्कृतियों के साथ भारतियों के घनिष्ठ संपर्कों का परिणाम था।

इस तरह आज हम जो भाषाएँ बोलते हैं उनका एक लंबा इतिहास रहा है। भारत में ऐसी 18 भाषाएँ हैं, जिन्हें संविधान की आठवीं अनुसूची में रखा गया है। इसके अलावा देश के विभिन्न भागों में सैकड़ों अन्य भाषाएँ भी बोली जाती हैं। भाषाओं की इसी विविधता ने भारत को एक बहुभाषीय देश बनाया है। आज बोली जाने वाली भाषाएँ सदियों के कालक्रम में विकसित हुई हैं और उन्होंने एक-दूसरे को प्रभावित किया तथा एक-दूसरे को समृद्ध बनाया है।

प्राचीन भारतीय साहित्य

भारतीय आर्यों की प्राचीनतम ज्ञात पुस्तक " ऋग्वेद'' है जो वैदिक संस्कृत में रचे हुए 1028 छंदों का संग्रह है। अधिकांश छंदों में वैदिक देवताओं की स्तुति की गई है और इन्हें यज्ञों या बलिदानों के समय पढ़ा जाता था। उषा को संबोधित करते कुछ छंद बहुत ही मनमोहक हैं। एक छंद का अर्थ इस प्रकार है:

> "आकाश में वह बहुत तेज चमक के साथ जगमगा रही है। देवी ने अंधकार का परिधान उतार फेंका है। विश्व को उसकी निद्रा से जगाती गुलाबी घोड़ों द्वारा खींचे जा रहे रथ पर सवार,लो, वह प्रभात की देवी चली आ रही है।''(ऋग्वेद,1.113)

" ऋग्वेद'' के बाद तीन और वेदों की रचना की गई। ये हैं – " यजुर्वेद'' जो यज्ञ के संपादन की विधियाँ बतलाता है, " सामवेद'' जिसमें ऋग्वेद के छंदों के गायन की विधि बतलाई गई है और "अथर्ववेद'' जिसमें अनेक संस्कारों और कर्मकांडों का वर्णन है। वेदों के बाद अनेक "ब्राह्मण'' ग्रंथों की रचना हुई, जिनमें वैदिक साहित्य और आदेशों की विस्तृत व्याख्या की गई है। ब्राह्मण ग्रंथों के परिशिष्ट भागों को "आरण्यक'' कहते हैं। उनमें अनेक संस्कारों को बतलाया गया है। दार्शनिक साहित्य का आधार भी इन्हीं आरण्यक ग्रंथों ने तैयार किया। उपनिषद् साहित्य में ब्रह्मांड का आरम्भ, जीवन-मृत्यु, भौतिक और आध्यात्मिक जगत, ज्ञान की प्रकृति और अनेक दूसरे दार्शनिक प्रश्नों की विवेचना की गई है। " बृहदारण्य'' तथा " छांदोग्य'' आरंभिक उपनिषद् हैं। उपनिषद् संवाद रूप में हैं और इनमें सरल तथा सुंदर बिंबों के द्वारा गूढ़ विचार व्यक्त किए गए हैं। आरंभिक काल में वेदांग कहा जाने वाला साहित्य भी विकसित हुआ। इसमें कर्मकांडों के अलावा ज्योतिष, व्याकरण और ध्वनिशास्त्र शामिल हैं। इस काल की एक प्रमुख रचना पाणिनी का ग्रंथ "अष्टाध्यायी'' है जो संस्कृत व्याकरण का प्रसिद्ध ग्रंथ है।

ये सभी रचनाएं संस्कृत में थीं। हर अगली पीढ़ी अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी से मौखिक रूप से इनको सीखती थी। इनको काफी बाद में लिपि बद्ध किया गया।

भारत के दो प्रमुख महाकाव्य रामायण और महाभारत हैं। इनकी रचना सैकड़ों वर्षों के कालक्रम में हुई। अपने वर्तमान रूप में संभवत: दूसरी सदी ईसवी में ही ये ग्रंथ कलमबंद किए गए। महाभारत में लगभग एक लाख श्लोक हैं और यह संसार का सबसे बड़ा काव्यग्रंथ है। पांडव-कौरव युद्ध इसका केंद्रीय विषय है, मगर इसमें अनेक छोटी-छोटी कहानियाँ भी जुड़ी हुई हैं। भगवद्गीता में जो बाद में महाभारत का एक भाग बनी, एक गूढ़ दार्शनिक सिद्धांत का विवेचन किया गया है। इसमें मोक्ष-प्राप्ति के तीन मार्ग–कर्म, ज्ञान और भक्ति–बताए गए हैं। रामायण राम की कथा है। यह महाभारत से बहुत छोटी है तथा इसमें अनेक दिलचस्प घटनाओं तथा साहसिक कार्यों का वर्णन है। इन दो महाकाव्यों ने सदियों तक करोड़ों लोगों के विचारों को प्रभावित किया है।

इस काल में संस्कृत में विपुल साहित्य की रचना हुई। इसमें धार्मिक और लौकिक दोनों तरह की रचनाएँ हैं।

पुराणों का महत्व इसलिए है कि आरंभिक वैदिक धर्म को हिंदू धर्म बनाने में उनकी प्रमुख भूमिका रही है। अनेक "शास्त्र" और "स्मृति" ग्रंथ भी लिखे गए। "शास्त्र" विज्ञान और दर्शन के ग्रंथ हैं। मिसाल के लिए कौटिल्य का "अर्थशास्त्र" शासन-विज्ञान का ग्रंथ है। कलाओं, गणित और अन्य विज्ञानों के लिए भी शास्त्र लिखे गए हैं। स्मृति ग्रंथों का संबंध धर्म द्वारा अनुमोदित कर्तव्यों, रिवाजों और नियमों के पालन से है।

आरंभिक बौद्ध साहित्य पाली भाषा में है। यह तीन भागों में विभक्त है। सुत्तपिटक मुख्यत: बुद्ध तथा उनके शिष्यों के बीच संवादों का संग्रह है। विनयपिटक का संबंध बौद्ध संघों के नियमों से है। "मिलिन्द पन्ह" एक और प्रमुख बौद्ध ग्रंथ है। इसमें हिन्द-यूनानी शासन मिनांडर (मिलिंद) और बौद्ध दार्शनिक नागसेन का संवाद लिपिबद्ध है। सैकड़ों "जातक-कथाएँ" भी बौद्ध साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग हैं। विश्वभर में बुद्धिमता के लिए प्रसिद्ध ये कथाएँ बौद्ध स्थापत्य-कला का विषय भी बनीं। बाद में अनेक बौद्ध ग्रंथ संस्कृत में लिखे गए। अश्वघोष का "बुद्धचरित" इनमें सबसे प्रसिद्ध है।

गुप्त साम्राज्य से कुछ पहले संस्कृत साहित्य का ख़ासकर लौकिक साहित्य का एक वैभवपूर्ण युग आरंभ होता है। यह काव्य और नाटक के विकास का स्वर्णकाल था। इस काल के महान लेखक कालिदास, भवभूति, भारवि, भर्तहरि, बाणभट्ट, माघ और दूसरे अनेक थे। ये सभी विख्यात हैं। इनमें कालिदास तो जगत प्रसिद्ध लेखक हैं। अपने काव्य और शैली के कारण उनके "**कुमारसंभव,**" "**रघुवंश**" "**मेघदूत**" और "**अभिज्ञानशाकुंतलम्**" और अन्य ग्रंथ बेजोड़ हैं। बाण ने "**हर्षचरित**" लिखा जो सम्राट हर्षवर्धन का जीवन-चरित्र है। उन्होंने "**कादंबरी**" की रचना भी की। इस काल के दूसरे प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं–भवभूति का "**उत्तर-रामचरित,**" भारवि का "**किरातार्जुनीय,**" विशाखदत्त का "**मुद्रा राक्षस**" और शूद्रक का "**मृच्छकटिकम**" दंडी ने "**दशकुमारचरित**" की रचना की। राजनीतिक घटनाएँ, प्रेम-प्रसंग, रूपक, हास्य-प्रसंग और दार्शनिक इन सभी ग्रन्थों के मुख्य विषय हैं। इनके अलावा बहुत सारा दार्शनिक साहित्य भी रचा गया। बाद के काल की प्रसिद्धतम दार्शनिक रचनाएँ शंकराचार्य के भाष्य हैं। कहानियों के सबसे प्रसिद्ध संग्रह "**पंचतंत्र**" और "**कथासरितसागर**" हैं जिनके अनुवाद विश्व की अनेक भाषाओं में हो चुके हैं।

चार द्रविड़ भाषाओं (तमिल, तेलुगू, कन्नड़ और मलयालम) की अपनी-अपनी लिपियों और साहित्य का विकास भी हुआ। इनमें सबसे पुरानी भाषा तमिल है। इसका साहित्य ईसा की आरंभिक सदियों जितना पुराना है। परंपरा के अनुसार तीन संगमों का आयोजन हुआ, जिनमें अनेक संतों और कवियों ने अपनी रचनाओं का पाठ किया। इस साहित्य के अनेक विषय हैं जैसे–राजनीति, युद्ध और प्रेम-प्रसंग। इनमें प्रसिद्ध ग्रंथ हैं–"**एट्टुटोगाई**" (आठ काव्य संकलन) "**टोलकाप्पियम**"(व्याकरण ग्रंथ) और "**पट्टूप्पट्टू**"(दस गीत)। तिरूवल्लुवार ने प्रसिद्ध ग्रंथ "कुरल" की रचना की। इस काव्य ग्रंथ में जीवन के अनेक पक्षों की विवेचना की गई है। "सिलप्पतिकारम," "मणिमेकलै" आदि आरंभिक तमिल साहित्य के कुछ अन्य प्रसिद्ध ग्रंथ हैं।

मध्यकालीन साहित्य

उत्तरी भारत में मध्यकाल के आरंभ में संस्कृत साहित्य की भाषा बनी रही। इस काल में कश्मीर में दो महान ग्रंथों की रचना हुई। ये हैं–सोमदेव का "**कथासरितसागर**" (इसका उल्लेख ऊपर आ चुका है) और कल्हण का "**राजतरंगिनी**"। कश्मीर का इतिहास बयान करने वाली पुस्तक **राजतरंगिनी** बहुत महत्वपूर्ण पुस्तक है, क्योंकि सही अर्थों में यह भारत का पहला ऐतिहासिक ग्रंथ है। इस काल का एक और प्रमुख ग्रंथ है जयदेव का "**गीत गोविंद**"। यह संस्कृत के सबसे सुंदर काव्यग्रंथों में से है। हम ऊपर बता चुके हैं कि यह वह काल है जब अपभ्रंश कही जाने वाली भाषाओं से आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास आरंभ हुआ। चंदबरदाई का "**पृथ्वीराज रासो**" प्राचीनतम हिंदी का एक आरंभिक ग्रंथ है। पृथ्वीराज चौहान के वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन करने वाली इस पुस्तक से ही हिंदी साहित्य का वीरगाथा काल आरंभ होता है।

दक्षिण भारत में इस काल में संस्कृत साहित्य खूब फला-फूला। शंकर के दार्शनिक भाष्यों का उल्लेख हम कर चुके हैं। इस काल का एक प्रमुख संस्कृत ग्रंथ विल्हण का

" **विक्रमांकदेवचरित**" है जो चालुक्य राजा विक्रमादित्य छठे का जीवन चरित्र है। मगर इस काल का सबसे अधिक महत्व द्रविड़ भाषाओं के विकास के कारण है। नृपतुंग ने कन्नड़ भाषा में एक महान काव्य ग्रंथ " **कविराजमार्ग**" नाम से लिखा। कुछ सदियों तक कन्नड़ साहित्य पर जैन धर्म का बहुत गहरा प्रभाव रहा । पम्पा ने "**आदिपुराण**" और " **विक्रमार्जुन-विजय**" की रचना की। पहले का संबंध प्रथम जैन तीर्थंकर के जीवन से है जबकि दूसरा ग्रंथ महाभारत पर आधारित है। पोन्ना ने " **शांति पुराण**" लिखा है जो सोलहवें जैन तीर्थंकर का पौरणिक जीवन-चरित्र है। रन्ना, पम्पा और पोन्ना का समकालीन एक और महान कन्नड़ लेखक था। " **अजितपुराण**" और " **गदायुद्ध**" उसके दो प्रसिद्धतम ग्रंथ हैं। पम्पा, पोन्ना और रन्ना को आरंभिक कन्नड़ साहित्य की त्रिमूर्ति कहा जाता है।

कंबन ने तमिल में " **रामायणम**" की रचना की। तमिल साहित्य में यह अलवारों और नयनारों के भक्ति-गीतों का था। अलवारों के गीतों को **"नलयिर-दिव्य-प्रबंधम"** में संगृहीत किया गया है। नयनारों की कुछ कृतियाँ हैं: **'तिरूवषगम,' 'तिरूमंदिरम' और 'तिरूत्तोदत्तोगई।'**

इस काल में तेलुगु में भी महान धार्मिक और लौकिक साहित्य की रचना हुई। इसमें रामायण और महाभारत के अनुवाद, व्याकरण ग्रंथ, वैज्ञानिक और दूसरे तरह का लौकिक साहित्य शामिल है। मलयालम में भी साहित्य का विकास आरंभ हुआ।

दिल्ली सल्तनत के काल में आधुनिक भारतीय भाषाओं और साहित्य का बहुत अधिक विकास हुआ। हिंदी के दो रूपों, ब्रजभाषा और खड़ी बोली का साहित्यिक रचनाओं में उपयोग किया जाने लगा। इन भाषाओं में अनेक भक्तिगीतों की रचना हुई। हिंदी और गुज़राती से मिलती-जुलती राजस्थानी भाषा में वीरगाथाएँ लिखी गई। **'आल्हा, ऊदल'** और " **बीसलदेव रासो**" नामक प्रसिद्ध वीरगाथाएँ इसी काल की हैं। दूसरी आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी साहित्य का विकास हो रहा था। मुल्ला दाउद का ग्रंथ " **चंदायन**" संभवतः अवधी का प्राचीनतम ग्रंथ है। मगर प्राचीन ग्रंथों पर भाष्य अभी भी संस्कृत में ही लिखे जा रहे थे।

फ़ारसी सुल्तानों की राजभाषा थी। इसके साहित्य के कारण अनेक फ़ारसी शब्द भारतीय भाषाओं के शब्दकोश में शामिल हो गए। फ़ारसी में लिखा गया ऐतिहासिक साहित्य तुर्कों का अत्यंत उल्लेखनीय योगदान है। प्राचीन भारत में ऐतिहासिक लेखन की कोई परंपरा नहीं थी। तुर्कों ने भारत को ऐतिहासिक लेखन की अरब-ईरानी परंपराओं से परिचित कराया। इसके बाद दिल्ली सल्तनत और उसके बाद के भारतीय इतिहास का एक बहुत-कुछ व्यवस्थित विवरण हमें मिलता है। इस काल में अनेक इतिहासकार हुए। ज़ियाउद्दीन बरनी ने " **तारीखे-फिरोज़शाही**" लिखी जिसमें खलज़ी और तुगलक वंशों के राज्य का विस्तृत विवरण मिलता है। उसने राजनीतिक सिद्धान्तों पर " **फतव-ए-जहाँदारी**" नामक ग्रंथ भी लिखा। अमीर खुसरो इस काल के संभवतः सबसे महान साहित्यकार हैं। वे एक कवि, इतिहासकार, रहस्यवादी संत और संगीतज्ञ थे। वे निजामुद्दीन औलिया के शिष्य थे। उन्होंने " **आशिका,**" "**नूह सिपिहर,**" " **किरानुल-सदायन**" और अनेक काव्य ग्रंथों की रचना की। नए प्रभावों के कारण जो साझी संस्कृति विकसित हो रही थी वे उसके प्रतीक थे। उन्हें अपने भारतीय होने पर बहुत गर्व था और वे भारत को धरती का स्वर्ग कहा करते थे। भारत का वातावरण, उसकी सुदंरता, उसकी इमारतों और उसके ज्ञान-विज्ञान की खुसरो ने बहुत तारीफ़ें की हैं। उनका विश्वास था कि हिन्दू धर्म का सारतत्व अनेक अर्थों में इस्लाम से मिलता-जुलता है। वे दिल्ली के आसपास बोली जाने वाली भाषा को हिन्दवी कहते और उसे अपनी मातृभाषा बतलाते थे। इस भाषा में उन्होंने बहुत-सी कविताएँ रची हैं। उन्होंने हिन्दी और फ़ारसी को मिलाकर बहुत सी द्विभाषी चौपाइयों और दोहों की रचना की है। उनके साथ आरंभ हुई स्वस्थ परंपरा उनके बाद सदियों तक जारी रही।

क्षेत्रीय भाषाओं और उनके साहित्य को क्षेत्रीय राज्यों ने बहुत बढ़ावा दिया। बंगाल, गुजरात और दूसरे राज्यों के सुल्तानों ने स्थानीय भाषाओं और साहित्य को संरक्षण दिया। भक्तिमार्गी संतों ने जनता की भाषा में अपने उपदेश दिए। उनमें कबीर जैसे अनेक संत तो महान कवि थे। उस काल में हिंदी की दो प्रमुख बोलियाँ थी – भोजपुरी और

अवधी। कबीर की रचनाएँ अधिकांश भोजपुरी में हैं और उनके दोहे लोकसाहित्य का अंग बन गए हैं। मलिक मुहम्मद जायसी ने अवधी में "**पद्मावत**" लिखी। अवधी में तुलसीदास का प्रसिद्ध ग्रंथ "**रामचरितमानस**" इसी काल में लिखा गया। इस काल में अवधी में कई दूसरे कवि भी थे। उदाहरण के लिए सूफी संत शेख बुरहान के शिष्य कुतुबन ने "**मृगावती**" की रचना की।

इस काल में दूसरी भाषाओं का साहित्य भी विकसित हुआ। बंगाल के शासकों के संरक्षण में कृत्तिवास ने बंगला में "**रामायण**" और प्रसिद्ध कवि चंडीदास ने सैकड़ों गीतों की रचना की। चैतन्य से भक्तिगीत लिखने की परंपरा शुरू हुई। नरसी मेहता ने गुजराती और नामदेव तथा एकनाथ ने मराठी में भक्तिगीतों की रचना की। जैनुल-अविदीन के संरक्षण में कश्मीर में "**महाभारत**" और "**राजतरंगिनी**" जैसे अनेक संस्कृत ग्रंथों का फ़ारसी में अनुवाद हुआ।

विजयनगर साम्राज्य में संस्कृत का विकास जारी रहा मगर तेलुगु साहित्य के विकास के लिए यह काल महत्वपूर्ण है। विजयनगर के महानतम शासक कृष्णदेव राय स्वयं भी तेलुगु और संस्कृत के लेखक थे। उन्होंने "**विष्णुचित्तीय**" की रचना की। उनके दरबार में अनेक कवि थे। इनमें सबसे प्रसिद्ध थे–अल्लसनी पेद्दन जिन्होंने "**मनुचरित**" लिखी। धूर्जति ने "**कलहरित माहात्म्य**" की रचना की।

मुग़ल शासन काल में वास्तुकला और दूसरी कलाओं की तरह साहित्य में भी भारी विकास हुए। अनेक मुग़ल सम्राट और शाही परिवार के सदस्य स्वयं भी अच्छे लेखक थे। पहला मुग़ल सम्राट बाबर तुर्की काव्य के संस्थापकों में से था। उसने तुर्की में अपनी मूल्यवान आत्मकथा "**बाबरनामा**" लिखी जिसका बाद में फ़ारसी में अनुवाद हुआ। हुमायूँ की बहन गुलबदन बेगम ने "**हुमायूँनामा**" लिखी। कला के महान संरक्षक जहाँगीर ने भी अपनी आत्मकथा "**तुज़ुकेजहाँगीरी**" शीर्षक से लिखी। औरंगज़ेब भी एक सिद्धहस्त लेखक था और अंतिम मुग़ल सम्राट बहादुरशाह ज़फ़र एक प्रसिद्ध उर्दू कवि थे।

अकबर के काल में हिंदी साहित्य का उल्लेखनीय विकास हुआ। तुलसीदास (जिनका उल्लेख हो चुका है) और प्रसिद्ध संत सूरदास इसी काल में हुए। महान कवि केशवदास ने प्रेम के विषय पर लिखा। रहीम के दोहे देश के कई भागों में बहुत ही प्रसिद्ध हैं। लेखन की शैलियों से संबंधित ग्रंथ केशव मिश्र कृत '**अलंकारशेखर**' की रचना भी अकबर के काल में ही हुई।

इस काल में फ़ारसी भाषा में भी अनेक उल्लेखनीय पुस्तकें लिखी गईं। अबुल फजल ने "**आईने-अकबरी**" और "**अकबरनामा**" लिखी। "**आइने-अकबरी**" में भारतीय रीति रिवाजों, शिष्टाचारों, धर्म और दर्शन, आर्थिक दशाओं और जीवन के लगभग सभी पक्षों का विस्तृत विवरण मिलता है। ऐतिहासिक कृति के रूप में संभवत: ये बेजोड़ है। अबुल फजल का भाई फैजी फ़ारसी भाषा का एक महान कवि था और उसने अनेक संस्कृत ग्रंथों के फ़ारसी में अनुवाद किए। "**महाभारत**", "**रामायण**", "**अथर्ववेद**", "**भगवद्गीता**" और "**पंचतंत्र**" जैसे ग्रंथों के अनुवाद के लिए अकबर ने पूरा एक विभाग ही बना रखा था।

अकबर के बाद के काल में अनेक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रंथ रचे गए। अब्दुल हमीद लाहौरी, ख़फ़ी ख़ान, मुहम्मद काजिम और सुजानराय भंडारी इस काल के कुछ सबसे महत्वपूर्ण इतिहासकार हैं। आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य का विकास भी जारी रहा। बिहारीलाल की प्रसिद्ध हिंदी पुस्तक "**सतसई**" इसी काल की है।

मध्यकाल की सबसे महत्वपूर्ण घटनाक्रमों में से एक थी–उर्दू नामक नई भाषा का जन्म। यह नई भाषा जल्द ही साहित्य की दृष्टि से सबसे समृद्ध आधुनिक भारतीय भाषाओं की कतार में आ खड़ी हुई। इसमें वली, मीर दर्द, मीर तकी मीर, नजीर अकबरावादी, असदुल्लाह ख़ान गालिब (और बीसवीं सदी में इकबाल आदि) महान कवि हुए हैं। 18 वीं सदी में उर्दू गद्य का भी विकास हुआ जब फ़ारसी और संस्कृत के अधिकांश ऐतिहासिक ग्रंथों का उर्दू में अनुवाद होने लगा। साथ ही उर्दू में गद्य के अनेक मौलिक ग्रंथ भी लिखे गए जैसे मुहम्मद हुसैन आज़ाद का "**दरबारे-अकबरी**"। जिन भारतियों में उपन्यास-कला का विकास सबसे पहले हुआ उनमें उर्दू भी शामिल थी। उर्दू उत्तरी भारत और दक्कन की नगरीय जनता की भाषा बन गई और यह समन्वित संस्कृति के विकास का एक श्रेष्ठतम

उदाहरण है।

संगीत और नृत्य

वास्तुकला, चित्रकला, भाषा और साहित्य की तरह संस्कृति के दूसरे पक्षों में भी विकास और समन्वय की प्रक्रिया हमें दिखाई देती है। उसी तरह के मूलभूत विचारों से प्रेरित होकर प्राचीन काल में तैयार हो चुके आधारों पर भारतीय संगीत और नृत्यों का भी बहुमुखी विकास हुआ। भारतीय संगीत की परंपरा बहुत पहले वेदों के युग से ही आरंभ होती है जब वैदिक छंदों के गान के लिए लय-ताल, आरोह-अवरोह आदि के सिद्धान्त स्थापित किए गए थे। वैदिक गान का संगीत आज तक अस्तित्व में है। भारतीय संगीत और नाट्य की प्राचीनतम ज्ञात पुस्तक भी बहुत पुरानी, ईसा-पूर्व दूसरी सदी की है। यह पुस्तक भरतमुनि का "**नाट्यशास्त्र**" है। आज संगीत-विद्या में जिन शब्दों का इस्तेमाल होता है उनमें से अधिकांश इसी पुस्तक से लिए गए हैं। इसके कोई एक हज़ार वर्ष बाद मातंग ऋषि ने एक और महत्वपूर्ण ग्रंथ " **बृहद्देशी**"की रचना की। इस ग्रंथ में राग की धारणा की विस्तार से चर्चा की गई है। तेरहवीं सदी की एक रचना–सारंगदेव कृत " **संगीत रत्नाकार**" – में 264 रागों का उल्लेख हुआ है। भारतीय गायन और वाद्य संगीत, दोनों सात मुख्य स्वरों और पाँच गौण स्वरों पर आधारित हैं। आगे चलकर अनेकानेक प्रकार के तंत्री वाद्यों, सुषिर वाद्यों और ढोलों (ताल वाद्यों) का आविष्कार किया गया। अनंतकाल से संगीत भारत की जनता की सबसे प्रिय कलाओं में से एक रही है। अनेक शासक संगीतकारों को संरक्षण ही नहीं देते थे बल्कि स्वयं भी महान संगीतकार थे। उदाहरण के लिए सम्राट समुद्रगुप्त के एक सिक्के में स्वयं सम्राट को ही वीणा बजाते दिखाया गया है। संगीत का संबंध देवी-देवताओं की पूजा से भी रहा है और इसकी पूर्णता के कारण इसे संगीतकारों की वही भक्ति मिली है जो अन्य व्यक्तियों की पूजा में होती है।

मध्यकाल में संगीत का और आगे विकास हुआ। संगीत आरंभिक इस्लामी परंपरा का अंग नहीं रहा है, हालाँकि कुरान की आयतों की तलावत में संगीत का रस पाया जाता है। पर बाद में सूफ़ी संतों के प्रभाव के कारण इसका विकास हुआ। यह दरबारी जीवन का अंग भी बन गया। अनेक नए रागों का विकास हुआ और अनेक नए वाद्यों का आविष्कार हुआ। आप साहित्य और ऐतिहासिक लेखन के क्षेत्र में अमीर खुसरो के योगदान के बारे में पढ़ चुके हैं। विश्वास किया जाता है कि कुछ वाद्यों का आविष्कार उन्होंने भी किया। वे भारत में प्रचलित कव्वाली नामक संगीत-शैली के जन्मदाता भी हैं। भारतीय शास्त्रीय संगीत में ख़याल का महत्वपूर्ण स्थान है। ऐसा विश्वास है कि यह भी खुसरो की ही देन है। मालवा का सोलहवीं सदी का शासक बाजबहादुर और उसकी रानी रूपमती लोकगाथाओं के अंग बन चुके हैं। वे सिद्धहस्त संगीतकार ही नहीं थे बल्कि उन्होंने अनेक नए रागों की रचना भी की। मध्यकालीन संगीत के प्रमुखतम संगीतकार तानसेन थे जो अकबर के नवरत्नों में से थे। उनकी संगीत संबंधी उपलब्धियाँ लोकगाथाओं के विषय बन चुकी हैं। आज भी हर संगीतकार उनका नाम आदर के साथ लेता है। अठारहवीं सदी में भी संगीत को राजदरबारों का संरक्षण मिलता रहा और सदियों के कालक्रम में विकसित हुई परंपराएँ जारी रहीं। संगीत के विकास और प्रसार में भक्तिमार्गी संतों और सूफ़ियों का बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

भारत की सांस्कृतिक एकता को मजबूत बनाने में भारतीय शास्त्रीय संगीत के विकास की प्रमुख भूमिका रही है। भारतीय शास्त्रीय संगीत को सैकड़ों वर्षों तक अपने शब्द और विषय हिन्दू देवमाला से मिलते रहे पर इस संगीत के कुछ महानतम उस्ताद मुसलमान थे। यहाँ " **किताबे नौरस**" का जिक्र दिलचस्पी से खाली नहीं होगा। सत्रहवीं सदी के एक शासक, इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय द्वारा रचित यह ग्रंथ हिन्दू देवताओं और मुस्लिम संतों की प्रशंसा में लिखे गए गीतों का एक संग्रह है।

गायन और वाद्य, दोनों प्रकार के संगीत के क्षेत्र में दो शास्त्रीय शैलियों का विकास भारत में हुआ है। ये हैं–हिन्दुस्तानी संगीत और कर्नाटक संगीत। कर्नाटक संगीत-शैली के कुछ महानतम संगीतकार थे–पुरंदरदास, त्यागराज, मुथुस्वामी दीक्षितार और श्याम शास्त्री–जिनकी रचनाओं का प्रभाव कर्नाटक संगीत-शैली पर आज भी बना हुआ है। इन दोनों शैलियों में बहुत-सी बातें मिलती-जुलती

है और दोनों के अनेक रूप हैं। शास्त्रीय संगीत की जो समृद्ध विरासत हमें मिली है उसे समकालीन भारतीय उस्तादों ने और भी समृद्ध बनाया है और उसे पूरी दुनिया में प्रशंसा मिली है। शास्त्रीय संगीत के अलावा भारतीय जनता के हाथों लोकसंगीत का भी खूब विकास हुआ।

भारतीय नृत्यकला की भी एक समृद्ध शास्त्रीय परंपरा रही है। इसमें भावनाओं की अभिव्यक्ति की जाती है, कोई कथा कही जाती है या कोई नाटिका प्रस्तुत की जाती है। भारतीय नृत्यकला के बारे में बहुत कुछ प्राचीन और मध्यकालीन मंदिरों की स्थापत्य कला से जाना जा सकता है। नटराज के रूप में शिव की जो मुद्रा प्रचलित है वह इस बात की प्रतीक है कि भारतीय जनता के जीवन पर नृत्यकला का कितना गहरा प्रभाव रहा है। इसे महाराजाओं, राजाओं और साधारण जनता, सबका संरक्षण प्राप्त हुआ है। सदियों से कालक्रम में जिन शास्त्रीय शैलियों का विकास हुआ है, उनमें कुछ हैं—कथकली, कुचीपुड़ी, भरतनाट्यम, कथक और मणिपुरी। ये सभी शैलियाँ एक लंबे काल में विकसित हुई हैं। शास्त्रीय संगीत-नृत्य और लोक संगीत-नृत्य, दोनों की विविधता और दोनों की समृद्धि भारत की सांस्कृतिक विरासत का एक महत्वपूर्ण अंग हैं।

अपने संगीत और नृत्य के माध्यम से भारतीय जनता अपने सुख-दुःख, अपने संघर्षों और आकांक्षाओं तथा अनेकानेक अन्य भावनाओं की अभिव्यक्ति करती आई है। काम के समय और आराम के समय उन्होंने नाच गाना और संगीत का व्यवहार किया है। कला के ये सभी रूप जीवन की प्रेरणा पाकर उभरे हैं फिर उन्होंने जीवन को और भी समृद्ध बनाया है।

इस अध्याय में भारत के सांस्कृतिक विकास के कुछ पहलुओं का ही वर्णन किया गया है। भारत ने अपने पूरे इतिहास के दौरान विज्ञान, गणित, आयुर्विज्ञान और शल्य-चिकित्सा और दर्शन आदि ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों में उल्लेखनीय प्रगति की है। आप इस पुस्तक के खंड 1 के कुछ अध्यायों में इन क्षेत्रों में हुई कुछ उपलब्धियों के बारे में पढ़ चुके हैं। भारतीय विज्ञान, गणित, आयुर्विज्ञान और शल्यचिकित्सा में आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त, चरक और सुश्रुत आदि कुछ नाम बहुत ही प्रसिद्ध हैं। विज्ञान के क्षेत्र में सोलहवीं सदी में फ़तहुल्लाह शीराज़ी का नाम उल्लेखनीय है। इन सभी क्षेत्रों में भारत की जो उपलब्धियाँ रहीं वे विश्व के दूसरे देशों तक भी पहुँचीं। इन वैज्ञानिकों के अनेक ग्रंथों के अनुवाद अरबों ने किए और अरबों के माध्यम से यह ज्ञान यूरोपियों तक पहुँचा। भारतीय अंकों की कथा से आप पहले ही परिचित हैं। दूसरे देशों की वैज्ञानिक उपलब्धियों से भारतियों ने भी बहुत कुछ सीखा जैसे ज्योतिष और मध्यकाल में आयुर्विज्ञान के क्षेत्र। मगर लगभग सोलहवीं सदी से भारतीय विज्ञान दुनिया के दूसरे भागों में हो रही प्रगति से पिछड़ गया। यह वह समय था जब यूरोप में आधुनिक विज्ञान का विकास हो रहा था। प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में यह पिछड़ापन बाद में भी जारी रहा। पश्चिम में विज्ञान और प्रौद्योगिकी का जितना ही विकास हुआ, भारतीय विज्ञान और प्रौद्योगिकी भी उसकी तुलना में उतने ही पिछड़ते रहे। जैसा कि आप जानते हैं, इसके परिणाम बड़े ही घातक रहे।

दर्शन के क्षेत्र में भी प्राचीन और मध्यकाल में भारत में उल्लेखनीय प्रगति हुई। भाववादी और भौतिकवादी दोनों तरह के दर्शन के अनेक सुस्पष्ट संप्रदाय विकसित हुए मगर बाद के काल में ज्यादा जोर पहले के दार्शनिक ग्रंथों के भाष्य लिखने पर दिया जाता रहा, न कि नवीन चिंतन पर। बौद्धिक जीवन के इस क्षेत्र में भारत की विरासत बहुत ही महत्वपूर्ण है और दूसरे देशों के दार्शनिक चिंतन पर उसका जबर्दस्त प्रभाव पड़ा। फिर भी दर्शन में हुए कुछ घटनाक्रमों को अनदेखा किए जाने के कारण भारत के बौद्धिक जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। खासतौर पर वैज्ञानिक, मानवतावदी और बुद्धिवादी चिंतन संबंधी इस विकास को भारतीय बुद्धिजीवियों ने उन्नीसवीं सदी में ही अपनाना शुरू किया।

सदियों के कालक्रम में भारत के सांस्कृतिक विकास की यह एक संक्षिप्त रूपरेखा है। इन हज़ारों वर्षों में भारतवासियों और यहाँ बाहर से आने वालों का परस्पर मेलजोल जारी रहा। उन्होंने मिलकर एक समृद्ध और गतिशील संस्कृति का विकास किया जो अपने आंतरिक कारणों से और दूसरी संस्कृतियों के संपर्क के कारण लगातार विकसित होती रही। दूसरी जगहों पर उत्पन्न अनेक विचारों, विश्वासों और मतों का भारत के विचारों और विश्वासों से मिलन होता रहा और इस प्रकार उस महान संस्कृति का निर्माण हुआ जिसे भारतीय संस्कृति कहा जाता है। विश्वास और धर्म, वास्तुकला और अन्य कलाओं और

समृद्ध साहित्य वाली भाषाओं की अनेक धाराएँ सदियों के कालक्रम में विकसित हुईं। विविधता की दृष्टि से देखें तो भारतीय संस्कृति विश्व की सबसे समृद्ध संस्कृतियों में से एक है। इन सभी विभिन्न धाराओं का विकास इसी देश में हुआ और ये सभी भारतीय हैं। हमें इस पाठ को हृदयंगम करना होगा कि इस समृद्धि का कारण वह स्वतंत्रता है जो हर क्षेत्र और संप्रदाय के लोगों को अपनी प्रतिभा के विकास के लिए उपलब्ध रही है और यह उस पारस्परिक अंत:क्रिया के कारण है जो इन सभी लोगों के बीच होती रही है। हमें यह बात भी याद रखनी होगी कि किसी भी देश की संस्कृति गतिशील और निरंतर विकासमान होती है और उसे हर पीढ़ी को और भी विकसित तथा समृद्ध करना होता है।

अभ्यास

जानकारी के लिए

1. सन 1500 ईसा-पूर्व से सन 1800 ईसवी तक भारत में आकर और बसने वाली विभिन्न जातियों के नाम लिखिए।
2. निम्नलिखित लेखकों द्वारा लिखे गए एक-एक ग्रंथ का नाम बतलाइए—बाणभट्ट, कालिदास, अश्वघोष, पाणिनी, अबुल फ़जल, जहाँगीर, अमीर खुसरो, कौटिल्य, तिरूवल्लुवार, कंबन, पम्पा, तुलसीदास,ज़ियाउद्दीन बरनी, कल्हण।
3. भारत में मंदिरों की वास्तुकला का आरंभ किस प्रकार हुआ ? दक्षिण भारत में इसके विकास की प्रमुख विशेषताएँ क्या थीं ? प्राचीन और आरंभिक मध्य कालों के कुछ प्रमुख मंदिरों के नाम लिखिए।
4. प्राचीन भारत की साहित्यिक भाषाएँ कौन-कौन सी थीं ? आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास किस प्रकार हुआ ?

करने के लिए

1. भारत के मानचित्र पर उन स्थानों को दर्शाइए जहाँ प्राचीन और मध्यकाल के महत्वपूर्ण स्मारक पाए जाते हैं।
2. एक ही काल या विभिन्न कालों के स्मारकों का भ्रमण कीजिए तथा शैली संबंधी अंतर ढूँढने का प्रयास कीजिए।
3. अपने अध्यापक की सहायता से दूसरी भाषाओं के ऐसे 100 शब्दों की सूची बनाइए जो आपकी मातृभाषा के शब्द बन चुके हैं।

विचार करने और वाद-विवाद के लिए

1. हम कैसे कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृति की विरासत बहुत ही समृद्ध है ? इस समृद्धि का इस संस्कृति की विविधता से क्या कोई संबंध है ? यदि हाँ तो क्या आपके विचार में यह सांस्कृतिक विविधता बनीं रहनी चाहिए ? हाँ तो क्यों ? या नहीं तो क्यों ?
2. भारत की सांस्कृतिक विरासत से आपको क्या शिक्षा मिलती है ?
3. धर्म, वास्तुकला तथा कलाओं, साहित्य और भाषाओं के क्षेत्र में मध्यकाल के प्रमुख योगदान क्या कर रहे हैं ?
4. क्या यह सही है कि भारतीय इतिहास के विभिन्न कालों में विविधता में एकता भारतीय संस्कृति की खास विशेषता रही है ? भारतीय इतिहास के किसी एक काल का गहन अध्ययन कीजिए और ठोस प्रमाण देकर उपरोक्त वक्तव्य के सही या गलत होने की विवेचना कीजिए।

अध्याय 2

भारतीय जागरण

पुनर्जागरण, औद्योगिक क्रांति और सामाजिक-राजनीतिक क्रांतियों के कारण कई परिवर्तन हुए, जिन्होंने यूरोप में एक नई दुनिया की बुनियाद रखी थी। इन परिवर्तनों का संबंध बुद्धिवाद और वैज्ञानिक चिंतन के प्रसार, वस्तुओं के उत्पादन में व्यापक वृद्धि, जनता की अपने-अपने देश की सरकार में बढ़ती हुई भागीदारी और मानव-समानता की बढ़ती भावना तथा व्यक्ति की गरिमा के प्रति सम्मान से था। मगर इसी काल में भारतीय समाज अभी भी अपने पुराने ढर्रे पर चल रहा था और इन परिवर्तनों से बहुत हद तक अप्रभावित था। वह जड़ हो चुका था और उसे अपनी जड़ता की कीमत चुकानी पड़ी। वह ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हमलों का मुकाबला नहीं कर सका।

अठारहवीं सदी में भारतीय समाज

आर्थिक क्षेत्र में हर ग्राम अपनी न्यूनतम आवश्यकताएँ लगभग खुद पूरी कर लेता था। उसका देश के दूसरे भागों से आर्थिक आवश्यकताओं के कारण होने वाला संबंध सीमित था। खेती की तकनीकों में सैकड़ों सदियों से कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं आया था। स्थानीय दस्तकारियों और खेतिहर कामों में मामूली उपकरणों से ही काम चलाया जाता था। उद्योगों में मामूली औजारों की मदद से विलासिता और अर्धविलासिता की वस्तुओं का उत्पादन होता था। निर्यात की वस्तुओं को छोड़ दें तो इन वस्तुओं का उत्पादन मुख्यतः नगरीय जनसंख्या के लिए होता था।

भारतीय व्यापारी दूसरे देशों से व्यापार करते और भारी मुनाफ़े कमाते थे, परंतु इन भारी मुनाफ़ों का उपयोग उद्योगों के विकास के लिए नहीं किया जाता था। प्रौद्योगिक सुधार नहीं किए गए। आंतरिक और विदेशी व्यापार के कारण कुछ परिवर्तन अवश्य हुए। उदाहरण के लिए, घरेलू प्रथा का आरंभ हो चुका था। कालांतर में हो सकता है कि ये शक्तियाँ इतनी बढ़ जातीं कि मूलभूत परिवर्तन ला सकतीं पर ऐसा हो सके, इसके पहले ही भारत अंग्रेज़ दासता का शिकार हो गया और भारत में आंतरिक रूपांतरण, चाहे वह जितना भी धीमा रहा हो, ठप्प पड़ गया।

आर्थिक जड़ता के साथ-साथ सामाजिक क्षेत्र में भी ऐसी ही जड़ता आ गई थी। हिंदू सामाजिक प्रणाली मुख्यतः उस जाति-प्रथा पर आधारित थी जो प्राचीन काल की उपज थी। ऐतिहासिक विकास के कालक्रम में इसमें अनेक परिवर्तन आए थे, परंतु इसका वंशगत और असमान आधार बचा रह गया था। जाति-प्रथा सामाजिक एकता की कमी का सबसे महत्वपूर्ण कारण थी। देश में सैकड़ों जातियाँ और उपजातियाँ थीं जिनके कारण समाज खंडित हो चुका था। किसी जाति या उपजाति का सदस्य होने का भाव ही हावी था। आबादी के एक बड़े भाग को ऊँची जातियों वाले 'अछूत' समझते थे।

सैद्धांतिक रूप में हिंदुओं का जीवन धर्मशास्त्रों द्वारा नियंत्रित था, जिन्होंने विभिन्न जातियों के लिए अलग-अलग अधिकार और कर्तव्य निर्धारित किए थे। सती, बाल-हत्या, बाल-विवाह, और अंधविश्वासों जैसी अनेक कुप्रथाएँ और कुरीतियाँ हिंदू सामाजिक प्रणाली के अंग बन चुकी थीं। समाज में स्त्रियों की स्थिति गिर चुकी थी। विधवाओं का जीवन कष्टमय था खासतौर से तब जब वह ऊंची जाति की हों। बचपन में विधवा हो जाने वाली लड़की का

पुनर्विवाह नहीं हो सकता था।

मुस्लिम भी जातिगत, उपसांस्कृतिक, पंथिक और कबीलाई मतभेदों के कारण बँटे हुए थे। पिछड़ी हुई आर्थिक प्रणाली और एकजुटता तथा समानता की भावना से रहित सामाजिक प्रणाली के कारण प्रगति की शक्तियों का विकास अवरुद्ध हुआ। राजनीतिक प्रणाली की भी इतनी ही बुरी स्थिति थी। राजनीतिक वफ़ादारी का स्वरूप मुख्यत: स्थानीय या क्षेत्रीय था। 1707 में औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद मुग़ल साम्राज्य का पतन हो रहा था। भारत अनेक छोटे-बड़े राज्यों में बँटा हुआ था जो आपस में लड़ रहे थे। मुग़ल साम्राज्य के पतन के बाद मराठा भारत की सबसे बड़ी ताकत के रूप में उभरे परंतु वे भी एक भारतीय राष्ट्र की धारणा से अपरिचित थे। राष्ट्रीयता की उनकी धारणा बहुत तंग और सीमित थी और वे सबको एक राष्ट्र के रूप में एकताबद्ध करने की बजाय देश के दूसरे भागों पर छा जाने की सोच रहे थे। आज 'राष्ट्र' का जो अर्थ हम लगाते हैं, उस रूप में इसका विकास नहीं हुआ था।

यही वे परिस्थितियाँ थीं जब भारत में सत्रहवीं सदी के आरंभ से ही सक्रिय यूरोपीय व्यापारी कंपनियों ने देश के राजनीतिक मामलों में दख़ल देना आरंभ किया। भारतीय समाज की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक कमजोरियों का लाभ उठाकर ब्रिटिश भारत-विजय में सफल रहा।

भारत पर ब्रिटिश शासन के प्रभाव

भारत की विजय का कार्य उस अंग्रेज ईस्ट इंडिया कंपनी ने आरंभ किया जो 1600 में भारत से व्यापार के लिए बनाई गई थी। 1765 में बक्सर के युद्ध के बाद कंपनी ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा के राजस्व एकत्र करने का अधिकार प्राप्त कर लिया। धीरे-धीरे अंग्रेज़ों की शक्ति बढ़ती गई और कोई 50 वर्षों के अंदर-अंदर अंग्रेज़ भारत में सबसे बड़ी ताकत बनकर उभर आए।

भारत में ब्रिटिश शासन के प्रसार के साथ कंपनी के प्रभाव और विशेषाधिकारों में कमी आने लगी और ब्रिटिश शासन के प्रभाव और विशेषाधिकार बढ़ने लगे। औद्योगिक क्रांति की ब्रिटेन में पहले ही शुरुआत हो चुकी थी और नए पूँजीपति वर्ग की शक्ति बढ़ रही थी। ब्रिटिश साम्राज्य अब अधिकाधिक इसी वर्ग के हित की पूर्ति करने लगा। भारत कारखानों के माल की खपत के लिए एक विशाल बाज़ार तथा कच्चे मालों के एक स्रोत के रूप में ढल गया। इस तरह कुछ ही दशकों के अंदर भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के चरित्र में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। 1857 के विद्रोह के कुचले जाने के बाद भारतीय साम्राज्य ब्रिटिश सम्राट के अधीन आ गया और भारत में ब्रिटिश सरकार यहाँ की सबसे बड़ी शक्ति बन गई। जिन राज्यों में भारतीय राजाओं का शासन था, वे भी प्रभुतासंपन्न न थे, क्योंकि उन पर ब्रिटिश सरकार का बहुत अधिक दबदबा था। इस तरह लगभग सौ वर्षों के अंदर पूरा देश ब्रिटिश नियंत्रण में आ गया।

ब्रिटिश-विजय का देश की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रणालियों पर बहुत असर पड़ा। इसके भारतीय समाज के लिए अनेक महत्वपूर्ण परिणाम रहे। ब्रिटिश शासन के प्रभाव के कारण और उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप भारतीय जनता ने भारतीय समाज के सुधार तथा आधुनिकीकरण के लिए तथा साथ ही विदेशी शासन की समाप्ति के लिए आंदोलन आरंभ किए।

ब्रिटिश-विजय का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह रहा कि भारत एक राजनीतिक-प्रशासनिक इकाई के रूप में ढल गया और एक ऐसी कानूनी प्रणाली तैयार हुई जो हर नागरिक पर एक समान लागू होती थी, हालाँकि इन सबका उद्देश्य विदेशी शासकों के हितों की सेवा था। इसमें संदेह नहीं कि यह सब ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हित पूरे करने के लिए किया गया, पर यह आधुनिक भारत के उदय का एक कारण बन गया।

भारत में ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीतियों के और भी महत्वपूर्ण परिणाम हुए, क्योंकि उन्होंने परंपरागत भारतीय सामाजिक और आर्थिक संबंधों को छिन्न-भिन्न कर डाला। जिन क्षेत्रों में इस्तमरारी बंदोबस्त लागू किया गया, वहाँ नए सामाजिक वर्गों का उदय हुआ। जमींदारों का एक नया वर्ग पैदा हुआ जिसमें कुछ तो बहुत धनी थे। यह वर्ग जमीन को अपनी निजी संपत्ति समझता था जिसका अधिकतम आर्थिक लाभ के लिए उपयोग किया जा सके। वे खुद जमीन को जोतते-बोते नहीं थे। जोतने वाले तो मात्र बँटाईदार थे जिन्हें कोई अधिकार प्राप्त न था और जिनको जमींदार कभी भी बेदखल कर सकते थे। जिन क्षेत्रों में रैयतवारी प्रथा लागू की गई वहाँ किसान जमीन के मालिक

खुद थे परंतु उनका जीवन दयनीय था। अक्सर वे भारी कर्जों में डूबे और सूदखोरों के चंगुल में फंसे होते, जिन्होंने अंततः जमीन और उसकी पैदावार पर नियंत्रण पा लिया।

जमीन की मालगुज़ारी जोत के आकार के अनुसार तय की जाती, चाहे उसकी वास्तविक पैदावार कुछ भी हो और यह मालगुज़ारी नकद रुपयों में अदा करनी पड़ती थी। नकद और तयशुदा मालगुज़ारी की इन वसूलियों का एक दूरगामी परिणाम हुआ। अब खेतिहर पैदावार का इस्तेमाल केवल गाँव में नहीं बल्कि बिक्री के लिए उसका काफ़ी भाग बाज़ार में पहुँचने लगा। बाज़ार में बिक्री के लिए उत्पादन के कारण खेती का विशेषीकरण हुआ। जिन फसलों की बाज़ार में ऊँची कीमत मिल सकती थी उन क्षेत्रों में उत्पादन किया जाने लगा जो इसके लिए माकूल थे। इंग्लैंड के उद्योगों के लिए कच्चे माल की माँग बढ़ने पर नकदी फसलों का उत्पादन किया जाने लगा। फसलों के इस विशेषीकरण तथा व्यावसायीकरण ने ग्रामों की आत्मनिर्भरता को और भी धक्का पहुँचाया। अब अपनी कई आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए किसान गाँव से बाहर स्थित बाज़ारों पर निर्भर हो गए। मालगुज़ारी की नई प्रणाली के कारण किसानों पर कर्ज़ का बोझ बढ़ा तथा खेती के व्यावसायीकरण ने इसे और भी बदतर बनाया। इससे भूमिहीनता की प्रक्रिया भी तेज़ हुई।

ब्रिटिश आधिपत्य के कारण भारतीय उद्योग-व्यापार तबाह हो गए। सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों में भारत, इंग्लैंड और दूसरे यूरोपीय देशों को सूती वस्त्र भेजने वाला प्रमुख देश था। औद्योगिक क्रांति के बाद इंग्लैंड में सूती वस्त्र उद्योग के विकास के कारण तथा यूरोप में आयातों पर बढ़ते प्रतिबंधों के कारण ब्रिटिश सरकार ने भारतीय उद्योगों को नष्ट करने की नीति अपनाई। भारत कुछ ही दशकों के अंदर एक प्रमुख निर्यातक की स्थिति से गिरकर विदेशी वस्तुओं का सबसे बड़े उपभोक्ता देशों में एक हो गया। अब वह ब्रिटिश उद्योगों के लिए कच्चे माल पैदा करने लगा। भारत का विदेशी व्यापार भारतीय व्यापारियों के हाथों से निकल गया। धीरे-धीरे आंतरिक व्यापार में भी उनकी स्थिति नगण्य हो गई। देश के विभिन्न भागों के बीच होने वाला आंतरिक व्यापार भी घट गया। यातायात और संचार के साधनों, खासकर रेलों के विकास का उद्देश्य इसी प्रक्रिया को तेज करना और भारतीय अर्थव्यवस्था के परंपरागत ढाँचे को नष्ट करना था। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भारत में कुछेक आधुनिक उद्योगों का विकास आरंभ हुआ। इनमें सूती वस्त्र, जूट और कोयला-खदान उद्योग प्रमुख थे। हालाँकि इन उद्योगों का विकास बहुत ही बेढब रहा और इन पर अनेक प्रतिबंध लगाए गए फिर भी आधुनिक अद्योगों का विकास भारतीय इतिहास में एक मील का पत्थर साबित हुआ।

उन्नसवीं सदी के आरंभ मे कुछ ब्रिटिश प्रशासक उस समय पश्चिम में लोकप्रिय उदारवादी विचारों से प्रभावित थे और उन्होंने उनको भारत में लागू करने की कोशिशें कीं। इसका प्रतिबिंब हम भारत की ब्रिटिश सरकार के कुछ सामाजिक कानूनों में तथा आधुनिक शिक्षा के आरंभ में पाते हैं। सती-प्रथा का उन्मूलन, बाल-हत्या पर प्रतिबंध और विधवाओं के लिए पुनर्विवाह का कानूनी अधिकार ऐसे ही कुछ महत्वपूर्ण कानून थे। शिक्षा प्रणाली का पुनर्गठन किया गया। हालाँकि इसका उद्देश्य क्लर्की और दूसरी निचली सेवाओं के लिए लोगों को प्रशिक्षित करना था, परंतु इसके कारण भारत की जनता का लोकतंत्र और राष्ट्रवाद के आधुनिक विचारों से संपर्क हुआ। प्रेस के आरंभ ने, समय-समय पर उस पर लगाए गए कड़े प्रतिबंधों के बावजूद, जनता में बड़े पैमाने पर आधुनिक विचारों का अधिकाधिक प्रचार किया।

ब्रिटिश शासन का एक और परिणाम भारत में नए सामाजिक वर्गों का उदय था। इन वर्गों ने जनजागरण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। भारत में मध्यवर्ग का उदय इस काल की महत्वपूर्ण विशेषता थी। इस वर्ग के लोगों ने आधुनिक शिक्षा प्राप्त की और सार्वजनिक सेवाओं में दिलचस्पी लेने लगे। आधुनिक उद्योगों के आरंभ के साथ उद्योगपतियों तथा छोटे-बड़े व्यापारियों के वर्ग सामने आने लगे। देहातों में सूदखोर भी पनपने लगे। विकसित होने वाला एक महत्वपूर्ण समूह पेशेवर लोगों का था, जिसमें बुद्धिजीवी, अधिकारी, वकील, डॉक्टर, अध्यापक, पत्रकार, तकनीशियन और दूसरे लोग शामिल थे। ऊपर वर्णित नए सामाजिक वर्गों के लोगों से बना यह वर्ग समाज में बहुत

अहमियत रखता था। इसका दृष्टिकोण अधिक उदार था, क्योंकि इसकी स्थिति और शक्ति का स्रोत पेशेवर योग्यता थी, न कि वंशगत विशेषाधिकार। दुनिया के दूसरे भागों में जारी बौद्धिक प्रवृत्तियों से अपने परिचय के कारण आधुनिकीकरण की माँग उठाने में यह समूह आगे-आगे रहा।

कालांतर में दूसरे वर्ग भी महत्वपूर्ण हो गए। ब्रिटिश शासन ने किसानों को बहुत बड़ी संख्या में भूमिहीन बनाया। बँटाईदारी के अधिकार के लिए तथा शोषण के ख़िलाफ़ भूमिहीनों के आंदोलन तथा किसानों के आंदोलन उभरने लगे। औद्योगिक मज़दूर वर्ग बाद में, बीसवीं सदी में, सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण बना।

इस तरह ब्रिटिश आधिपत्य का भारतीय समाज पर दूरगामी प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव के परिणामस्वरूप और इसकी प्रतिक्रिया में भारतीय जनता ने अपने समाज की छान-बीन आरंभ कर दी ताकि उसमें सुधार किया जा सके और उसके आधुनिकीकरण की बुनियादें रखी जा सकें।



राजा राममोहन राय

उन्नीसवीं सदी में धार्मिक और सामाजिक सुधार आंदोलनों का एक सिलसिला आरंभ हुआ। इससे राष्ट्रीय चेतना तथा राष्ट्रीय आंदोलन के विकास का रास्ता तैयार हुआ, जिनका उद्देश्य देश को स्वतंत्र कराना और समाज का पुनर्निर्माण करना था।

धार्मिक और सामाजिक सुधार आंदोलन

भारतीय समाज के सभी समुदायों में धार्मिक और सामाजिक सुधार के आंदोलनों का आरंभ हुआ। धर्म के क्षेत्र में इन आंदोलनों ने कट्टरता, अंधविश्वासों तथा पुरोहितों के दबदबे पर हमले किए। सामाजिक जीवन में इनका उद्देश्य जाति-प्रथा, बाल-विवाह तथा अन्य कानूनी और सामाजिक असमानताओं का खात्मा था

राममोहन राय और ब्रह्म समाज

राजा राममोहन राय (1772-1833) आधुनिक भारत में जागरण के प्रमुख़तम व्यक्ति थे। बुद्धिवादी तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण को तथा मानव की गरिमा तथा सामाजिक समानता के सिद्धांतों को आधार बनाकर वे सामाजिक सुधार की दिशा में पहल करने वाले पहले व्यक्ति थे। इसीलिए इन्हें 'आधुनिक भारत का जनक' कहा जाता है। संस्कृत, फ़ारसी तथा अंग्रेज़ी भाषाओं पर उन्हें अधिकार प्राप्त था और वे अरबी, लातीनी और यूनानी के भी अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने भारतीय और यूरोपीय दर्शन पर तथा साथ ही अठारहवीं सदी के जागरण के विचारों पर अधिकार प्राप्त किया और पूर्व तथा पश्चिम के दर्शन में जो कुछ श्रेष्ठतम था उसका उन्होंने अपने विचारों में समावेश किया। धर्म-सुधार और समाज सुधार के कार्य के प्रति पूरी तरह समर्पित होकर उन्होंने 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापना की।

धर्म के क्षेत्र में उन्होंने बहुदेववाद तथा मूर्तिपूजा की निंदा की और सभी धर्मों तथा मानवता के लिए एक ईश्वर के सिद्धांत का प्रचार किया। उनके धार्मिक विचारों में इस्लाम, ईसाइयत, उपनिषदों तथा आधुनिक यूरोप के

उदारवादी दर्शन से लिए गए विचारों का समावेश हुआ। उन्होंने धर्म के प्रति एक बुद्धिसंगत दृष्टिकोण अपनाने की पैरवी की तथा लोगों को राय दी कि वे बिचौलिये ब्राह्मणों पर निर्भर न रहकर धर्मग्रंथों का स्वयं अध्ययन करें। इस उद्देश्य के साथ उन्होंने धर्म और दर्शन संबंधी प्राचीन भारतीय ग्रंथों का बंगला में अनुवाद किया।

राममोहन राय ने जाति-प्रथा पर कड़ी चोट की। उन्होंने सती-प्रथा तथा बाल-विवाह की समाप्ति के लिए सरकार को तैयार करने के लिए अभियान चलाया। वे स्त्रियों के समान अधिकार के पक्षधर थे, विधवाओं के पुनर्विवाह के अधिकार के तथा स्त्रियों के संपत्ति संबंधी अधिकार के समर्थक थे। वे आधुनिक शिक्षा के पक्षधर थे तथा भारत में विज्ञान के प्रचार के लिए उन्होंनें अंग्रेज़ी की शिक्षा दिए जाने की वकालत की। उनके सभी प्रयासों का उद्देश्य आधुनिक ज्ञान का प्रसार तथा भारतीय समाज का आधुनिकीकरण था। उन्होंने अपने विचारों के समर्थन में प्राचीन ग्रंथों का ही सहारा न लेकर बुद्धिसंगत तथा मानवतावादी सिद्धांतों का भी उपयोग किया और इसके लिए वे परंपरा से नाता तोड़ने पर भी तैयार थे। उन्होंने 'बुद्धिवाद के युग' के मानवतावादी आदर्शों को अपने में समा लिया था। उदाहरण के लिए, उन्होंने कहा है कि "अगर मानवता अस्तित्व में आई है और प्रकृति ने उसे इस तरह बनाया है कि वह समाज के सुखों का तथा एक सुसंस्कृत मन के आनंद का उपयोग कर सके तो उसका किसी भी ऐसी धार्मिक, घरेलू या राजनीतिक प्रथा का विरोध उचित है जो समाज की प्रसन्नता का विरोधी है या जिसका उद्देश्य मानव-बुद्धि को भ्रष्ट करना है।" वे एक अंतर्राष्ट्रवादी थे और हर जगह स्वतंत्रता के लक्ष्य के समर्थक थे। जब 1821 में इटली के एकीकरण के लिए चलने वाला नेपल्स का विद्रोह असफल हो गया तो उन्होंने अपनी सामाजिक गतिविधियाँ बंद कर दीं। उन्होंने 1830 की फ्रांसीसी क्रांति की सफलता का जश्न मनाया तथा आयरलैंड में ब्रिटिश शासन के तहत जनता की बुरी दशा की निंदा की।

राजा राममोहन राय द्वारा आरंभ किए गए काम को उनके द्वारा स्थापित संगठन, ब्रह्म समाज ने जारी रखा। यह समाज उन्नीसवीं सदी में हिंदू समाज के सुधार के लिए भारतीयों द्वारा किया गया पहला प्रयास था। इसने जातिगत भेदभाव समाप्त करने तथा स्त्रियों, खासकर विधवाओं की दशा सुधारने की दिशा में महत्वपूर्ण काम किया। हालाँकि ब्रह्म समाज में अनेक मतभेद उभरे, फिर भी उनके समर्थकों की काफी बड़ी संख्या थी और उसने बंगाल के जीवन में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। केशवचंद्र सेन के नेतृत्व में ब्रह्म समाज का काम पूरे देश में फैल गया और देश के विभिन्न भागों में इसकी 124 संस्थाएँ स्थापित हुईं।

बंगाल के एक और प्रमुख सुधारक ईश्वरचंद्र विद्यासागर (1820-91) थे। वे एक उच्चकोटि के विद्वान थे, जिन्होंने स्त्री-मुक्ति के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया। उन्हीं के प्रयासों का फल था कि 1856 में एक कानून बनाकर विधवा-पुनर्विवाह के रास्ते की कानूनी बाधाएँ दूर कर दी गईं। उन्होंने लड़कियों में शिक्षा के प्रसार में नेतृत्वकारी भूमिका निभाई और अनेक बालिका-विद्यालय स्थापित किए और स्थापित करने में सहायता दी। आधुनिक बंगला भाषा की उन्नति में तथा इसकी शिक्षा के लिए प्राइमर पुस्तकें तैयार करने में उनकी प्रमुख भूमिका रही।

सुधार आंदोलनों का प्रसार

देश के दूसरे भागों में भी ऐसे ही आंदोलन जल्द ही उठ खड़े हुए। बंगाल के बाद पश्चिमी भारत सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र था जहाँ सुधार आंदोलन फैले। पश्चिमी भारत के विभिन्न संगठनों की प्रमुखतम गतिविधियाँ स्त्री-शिक्षा, विधवा-पुनर्विवाह, विवाह की आयु-सीमा बढ़ाने, जातिगत भेदों तथा मूर्तिपूजा की निंदा के क्षेत्रों में थी। 1867 में बंबई में प्रार्थना समाज की स्थापना हुई। प्रार्थना समाज की धार्मिक सामाजिक सुधार की गतिविधियाँ ब्रह्म समाज जैसी ही थीं। महादेव गोविंद रानाडे (1842-1901) जैसे अनेक राष्ट्रीय नेता इसमें शामिल हुए।

रानाडे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संस्थापकों में एक थे, परंतु उनकी खास दिलचस्पी समाज सुधार में थी। जब वे पूना में न्यायाधीश थे, तब उन्होंने सार्वजनिक सभा की गतिविधियों में सक्रिय भाग लिया जो जनमत तैयार करने वाला एक प्रमुख संगठन थी। 1887 में इंडियन सोशल कांफ्रेंस (भारतीय सामाजिक सम्मेलन) नामक एक अखिल

भारतीय संगठन की स्थापना हुई। रानाडे इस संगठन के प्राण थे और वे 14 वर्षों तक इसके महासचिव रहे। रानाडे के नेतृत्व में इस कांफ्रेंस ने एक धर्मनिरपेक्ष संगठन की तरह काम किया और इसने भारतीय समाज के आधुनिकीकरण के उद्देश्य से विभिन्न सुधारों के लिए अभियान चलाए। जाति-प्रथा का उन्मूलन, अंतर्जातीय विवाह, विवाह की आयु में वृद्धि, बहुपत्नी-प्रथा को हतोत्साहित करना, विधवा-पुनर्विवाह, स्त्री-शिक्षा, तथाकथित जाति-बाहर लोगों की दशा में सुधार तथा हिन्दुओं और मुसलमानों के धार्मिक विवादों का पंचायतें बुलाकर निपटाना – ये इस कांफ्रेंस की कुछ माँगें थीं। रानाडे समस्याओं पर उदार दृष्टि से विचार करने वाले एक महान बुद्धिजीवी थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि सामाजिक, शैक्षिक, राजनीतिक और आर्थिक, सभी क्षेत्रों में राष्ट्र की प्रगति आवश्यक है। उन्होंने कहा : "अगर आप राजनीतिक अधिकारों के पैमाने पर अपने को बहुत नीचे पाते हैं तो आपके पास एक अच्छी सामाजिक प्रणाली नहीं हो सकती। इसी तरह अगर आपकी सामाजिक प्रणाली बुद्धि और न्याय पर आधारित न हो तो आप राजनीतिक अधिकारों और विशेषाधिकारों का उपयोग करने के योग्य भी नहीं हो सकते। अगर आपकी सामाजिक व्यवस्था कच्ची हो तो आपकी आर्थिक प्रणाली भी अच्छी नहीं हो सकती। अगर आपके धार्मिक विचार नीचता भरे और कीड़ों की तरह रेंगने वाले हों तो आप सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक क्षेत्रों में भी सफल नहीं हो सकते। यह पारस्परिक निर्भरता आकस्मिक नहीं बल्कि हमारी प्रकृति का नियम है।" उनके नेतृत्व में सामाजिक सुधार-कार्य का आधार और भी व्यापक हुआ और वह पूरे देश में फैला।

महाराष्ट्र में उत्पीड़ित जातियों के जागरण में अग्रणी भूमिका ज्योतिराव गोविंद राव फूले ने निभाई। उनको आमतौर पर महात्मा ज्योतिबा फूले के नाम से जाना जाता है। उन्होंने ब्राह्मणों की श्रेष्ठता तथा धर्मग्रंथों की प्रामाणिकता को चुनौती दी। 1873 में उन्होंने निचली जातियों तथा दूसरे उत्पीड़ित वर्गों को समानता के आंदोलन में उतारने के लिए **सत्यशोधक समाज** की स्थापना की तथा बालिकाओं, खासकार उत्पीड़ित जातियों की लड़कियों के बीच शिक्षा के प्रसार में अग्रणी भूमिका निभाई। देश के दूसरे भागों में भी ऐसे ही आंदोलन चलाए गए। कांडुकुरी वीरेशलिंगम (1848-1919) ने आंध्र में विधवा-पुनर्विवाह तथा स्त्री-शिक्षा के लिए आंदोलन चलाया। केरल में जातिगत उत्पीड़न के खिलाफ़ श्रीनारायण गुरू (1854-1928) ने आंदोलन चलाया। समाजसुधार कार्य को आगे बढ़ाने, उत्पीड़ित जातियों में जागरण लाने तथा जाति और धर्म के भेद के बिना लोगों में भाईचारे की भावना विकसित करने के लिए 1903 में उन्होंने श्री नारायण धर्म परिपालन योगम की स्थापना की ।

आर्यसमाज

हिंदू समाज के सुधार का एक और आंदोलन स्वामी दयानंद ने चलाया, जिन्होंने 1875 में आर्यसमाज की स्थापना की। दयानंद का जन्म काठियावाड़ के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बहुत छोटी उम्र में ही उन्होंने मूर्ति-पूजा के प्रति विद्रोह कर दिया। 22 वर्ष की आयु में वे घर से भाग खड़े हुए। हिंदुत्व के सुधार के लिए उन्होंने वेदों का सहारा लिया। 1879 में प्रकाशित **सत्यार्थ प्रकाश** उनकी प्रमुख रचना है। वे ब्रह्म समाज के नेताओं से मिलकर उनके विचारों से परिचित हो चुके थे। उन्होंने बाल-विवाह को वेद-विरोधी बतलाकर उस पर चोट की। अपनी पुस्तक में उन्होंने दूसरे सुस्थापित धर्मों की आलोचना की। दयानंद के अनुसार वेद अकाट्य हैं और वेदों की तरफ वापस पलट कर हिंदू धर्म को शुद्ध बनाया जाना चाहिए। सामाजिक और धार्मिक सुधार के क्षेत्र में आर्यसमाज की उपलब्धियाँ महत्वपूर्ण हैं और वे दूसरे समसामयिक सुधार आंदोलनों की उपलब्धियों से संभवत: अधिक हैं। ब्रह्म समाज का प्रवाह मुख्यत: पढ़े-लिखे लोगों तक सीमित रहा। ऊपर वर्णित कुछ अन्य सुधारकों ने धर्मग्रंथों की प्रामाणिकता को चुनौती दी थी। कहा जाता है कि वेदों की अकाट्यता पर जोर देकर तथा दूसरे धर्मों की आलोचना करके आर्यसमाज ने पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया और वह कुछ बातों में उतना भविष्योन्मुखी न था जितना कि 19 वीं सदी के कुछ अन्य सुधार आंदोलन।

आर्यसमाज ने ब्राह्मणों की सत्ता को नकारा और अनेक

धार्मिक रीति-रिवाजों तथा मूर्ति-पूजा की निंदा की। यद्यपि वह स्वयं में जाति-प्रथा का विरोधी न था, पर उसने वंशवाद पर आधारित जाति-प्रथा का विरोध किया। उसने स्त्रियों और पुरुषों के समान अधिकारों की वकालत की। मगर आर्यसमाज की सबसे बड़ी उपलब्धि शिक्षा के क्षेत्र में रही। इसने देश के विभिन्न भागों में लड़कों और लड़कियों, दोनों के लिए अनेक स्कूल और कालेज खोले। इन स्कूलों में शिक्षा का माध्यम हिन्दी होता था और उच्च कक्षाओं में अंग्रेज़ी अनिवार्य विषय होती थी। आर्यसमाज का सबसे अधिक प्रभाव पंजाब में पड़ा जहाँ सभी वर्गों में शिक्षा के प्रसार तथा हिन्दुओं को अनेक अंधविश्वासों से मुक्ति दिलाने के क्षेत्र में उसका कार्य खासतौर पर सरहानीय है।

विवेकानंद और रामकृष्ण मिशन

रामकृष्ण परमहंस का हिंदुओं पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। वे एक संत थे, जिन्होंने वेदांत, दर्शन, रहस्यवाद तथा भक्ति मार्ग को बहुत लोकप्रिय बनाया। स्वामी विवेकानंद (1861-1902) उनके प्रमुख शिष्य थे। स्वामी विवेकानंद ने वेदों को ही नहीं बल्कि हिंदू धर्म की सभी श्रेष्ठ परंपराओं को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया। रामकृष्ण परमहंस के स्वर्गवास के बाद स्वामी विवेकानंद ने अपने गुरू की शिक्षाओं के प्रचार के लिए रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। देश भर में इस मिशन ने अनेक शिक्षा-सस्थाएँ खोलीं। अपनी अमरीका-यात्रा के दौरान उन्होंने कहा कि वेदांत केवल हिंदुओं का नहीं, बल्कि मनुष्य मात्र का धर्म है। धर्म प्रचार उनके जीवन का प्रमुख लक्ष्य था, परंतु राष्ट्रीय जीवन के सभी पहलुओं के सुधार में उन्होंने रुचि ली। उन्होंने जनता की दशा पर चिंता व्यक्त करते हुए कहा कि उनकी उपेक्षा करना पाप है। वे पश्चिमी देशों की आर्थिक समृद्धि से तथा वहाँ स्त्रियों की स्थिति से बहुत प्रभावित हुए। विवेकानंद ने अपने जीवन में गतिशीलता और राष्ट्रवाद को समन्वित किया और नौजवानों को अपने देश पर गर्व करना सिखलाया।

एनी बेसेंट और थियोसोफिकल सोसायटी

भारत में थियोसोफिकल आंदोलन का आरंभ 1882 में मद्रास में अड्यार में मैडम ब्लेवात्सकी ने किया। इस आंदोलन के समर्थकों का मत था कि थियोसोफी में सभी धर्मों के बुनियादी सत्यों का समावेश हुआ है। फिर 1893 में भारत में आईं श्रीमती एनी बेसेंट इस आंदोलन की नेता बनीं। शुरू में उन्होंने अपनी शक्ति हिन्दू धर्म, दर्शन, कर्मकांड और पूजा पद्धति के पुनरुत्थान में लगाई। समाजसुधार के विरोधियों ने एनी बेसेंट के इन विचारों को समाज सुधारकों के विरोध का आधार बनाया परन्तु इन विचारों ने शिक्षित भारतियों के हृदय में स्वाभिमान की भावना जगाई। शिक्षा के क्षेत्र में एनी बेसेंट का कार्य बहुत महत्वपूर्ण था। उन्होंने बनारस में सेंट्रल हिंदू कालेज की स्थापना की, जिसे उन्होने बाद में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय को दे दिया। सोसायटी का केंद्र अड्यार, ज्ञान का एक प्रमुख केंद्र बन गया। वहाँ एक ऐसा पुस्तकालय बनाया गया जिसमें संस्कृत की दुर्लभ पुस्तकें मौजूद थीं।

बाद में एनी बेसेंट समाजसुधार और राजनीति के मैदान में उतरीं। उन्होंने प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान होम रूल लीग का संगठन किया। भारत की अंग्रेज सरकार ने उन्हें कुछ समय तक नजरबंद रखा। जब वे जेल से बाहर आईं तो 1917 में उन्हें कांग्रेस का अध्यक्ष चुना गया। थियोसोफिकल आंदोलन जनता में बहुत लोकप्रिय तो न हुआ परंतु एनी बेसेंट के नेतृत्व में इस आंदोलन ने भारतीय जनता के पुनर्जागरण के लिए जो कुछ किया, वह प्रशंसनीय है। उन्होंने लिखा था : "राष्ट्रीय भावना का विकास और भारतीय आदर्शों पर आधारित ऐसी शिक्षा जो पश्चिमी संस्कृति विचारधारा और संस्कृति पर आधारित हो परंतु जिस पर पश्चिमी संस्कृति का वर्चस्व न हो, भारत की प्रमुख आवश्यकताएँ हैं।" इस तरह उन्होंने भारत में राष्ट्रीय भावना के विकास में महान योगदान दिया।

अन्य सुधार आंदोलन

देश के दूसरे समुदायों के बीच और दूसरे क्षेत्रों में भी धार्मिक और सामाजिक सुधार के आंदोलन उठ खड़े हुए। मुस्लिम समुदाय में सुधार आंदोलनों का आरंभ 19 वीं सदी के उत्तरार्ध में हुआ। मुसलमानों में इन आंदोलनों के देर से उठने का कारण यह था कि मुस्लिम मध्य वर्ग का उदय देर से हुआ और वह कमज़ोर भी था। अंग्रेज़ों की भारत-

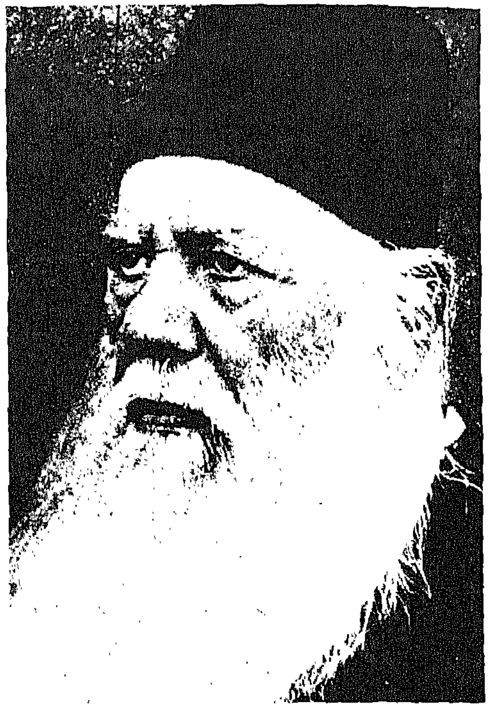
विजय के बाद बहुत से मुस्लिम जागीरदारों की जागीरें छिन गई थीं। अपनी नई स्थिति से ये जागीरदार संतुष्ट न थे और वे आधुनिक शिक्षा से अलग रहे। बहुत से मुसलमान कुशल कारीगर थे और अंग्रेज़ों की भारत-विजय के आर्थिक प्रभावों के फलस्वरूप वे तबाह हो गए थे। 1857 के विद्रोह में मुसलमान जनता और धार्मिक नेताओं ने अंग्रेज़ सरकार के विरुद्ध संघर्ष किया। अंग्रेज़ सरकार ने विद्रोह का दमन कर लेने के बाद बदले की भावना से मुसलमानों पर बहुत से अत्याचार किए। उन्हें विद्रोह के लिए ज़िम्मेदार ठहराकर उनके साथ शत्रुओं जैसा व्यवहार किया गया। सरकार ने जान-बूझकर मुस्लिम विरोधी नीति अपनाई और उनके साथ भेदभाव किया। उसने उनके बीच अलगाव की भावना को भी हवा दी। जो मुसलमान जागीरदार बचे रह गए थे, उनका दृष्टिकोण अभी भी सामंती था। वे पुराने ढर्रे पर अपना जीवन बिता रहे थे और जो कुछ संसार में हो रहा था उसके प्रति एकदम लापरवाह थे।

विद्रोह के बाद मुस्लिम समुदाय ने महसूस किया कि उसे भी अपना आधुनिकीकरण करना चाहिए। फलस्वरूप अनेक आंदोलन आरंभ हुए। इनमें से कई आंदोलनों का उद्देश्य था मुसलमानों को आधुनिक अंग्रेज़ी शिक्षा देना, पर्दा-प्रथा तथा बहुपत्नी-प्रथा के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाना और धर्म को आधुनिक विचारों के प्रकाश में देखना। इनमें से कुछ ने अपनी शक्ति ब्रिटिश सरकार के राजनीतिक विरोध पर लगाई। इन आंदोलनों ने परिवर्तन की आवश्यकता के प्रति अनेक प्रकार से जनता को जागरूक बनाया।

मुसलमानों में सुधार-आंदोलन का आरंभ बंगाल में नवाब अब्दुल लतीफ़ ने किया। उन्होंने 1863 में कलकत्ता में मोहम्मडन लिटरेरी सोसायटी की स्थापना की। इसका उद्देश्य अंग्रेज़ी भाषा और आधुनिक विज्ञान की शिक्षा की पैरवी करना था। इस सोसायटी ने पूरे बंगाल में अनेक शिक्षा संस्थाएँ स्थापित कीं। शीघ्र ही और भी कुछ व्यापक आंदोलन उठ खड़े हुए जिन्होंने मुस्लिम समुदाय पर बहुत प्रभाव डाला।

सैयद अहमद ख़ान और अलीगढ़ आंदोलन

सबसे प्रभावशाली सुधार आंदोलन का आरंभ सैयद अहमद



सर सैयद अहमद ख़ान

ख़ान (1817-99) ने किया, जिन्हें अक्सर सर सैयद के नाम से जाना जाता है। वे ब्रिटिश सरकार की सेवा में रह चुके थे और अनेक समकालीन सुधारकों की तरह वे भी ब्रिटिश शासन के समर्थक थे। उनका उद्देश्य था — मुसलमानों और अंग्रेज़ों की कट्टर शत्रुता को समाप्त करना तथा मुसलमानों को आधुनिक शिक्षा प्राप्त करने और सरकारी नौकरी करने के लिए तैयार करना। आरंभ में उन्होंने अपना ध्यान धर्म और दर्शन संबंधी समस्याओं पर लगाया। उन्होंने इस्लाम की ऐसी व्याख्या की कि मानवतावाद को बल मिले। वैज्ञानिक ग्रन्थों के उर्दू में अनुवाद और प्रकाशन के लिए उन्होंने 1862 में 'साइंटिफिक सोसायटी' की स्थापना की ताकि मुस्लिम जनता आधुनिक विज्ञान से परिचित हो सके। उनका सबसे बड़ा कारनामा 1875 में मोहमडन एंग्लो-ओरिएंटल कालेज की स्थापना था जो आगे विकसित होकर अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय बन गया। यही कारण है कि सर सैयद ने जिस आंदोलन का आरंभ

किया वह अलीगढ़ आंदोलन कहलाता है। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय मुसलमानों के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन में सबसे महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों का आरंभ करने वाला केंद्र बन गया।

अपनी शैक्षिक और साहित्यिक गतिविधियों के द्वारा सर सैयद ने भारत के सभी वर्गों की सेवा की। उनके कार्य के प्रति ब्रह्म समाज और आर्यसमाज ने भी कृतज्ञता व्यक्त की। मगर उन्होंने ब्रिटिश सरकार के साथ मुसलमानों के सहयोग पर भी ज़ोर दिया और वे सभी राजनीतिक आंदोलनों को अविश्वास की दृष्टि से देखते थे। उदाहरण के लिए जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई तो उन्होंने उसका विरोध किया। वे 'शिक्षा और केवल शिक्षा को ही राष्ट्रीय प्रगति का साधन' मानते थे।

उनके कांग्रेस-विरोध से उन सभी मुस्लिम नेताओं को धक्का लगा जिन्होंने साधारण सुधार गतिविधियों से अपना राजनीतिक जीवन आरंभ किया और बाद में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में शामिल हो गए थे और राष्ट्रीय पुनर्जागरण के लिए एक धर्मनिरपेक्ष आंदोलन खड़ा करने में जुटे हुए थे। सर सैयद के इस दृष्टिकोण का एक कारण उनका यह विश्वास था कि मुस्लिम समुदाय पिछड़ेपन का शिकार है और इसलिए अगर मुसलमान राजनीतिक आंदोलनों में भाग लेनें लगे तो उनके हितों को धक्का लगेगा। इसका दूसरा कारण उनका अत्यधिक उच्चवर्गीय दृष्टिकोण था। जब कांग्रेस ने यह माँग की कि प्रांतीय धारा सभाओं के सदस्य निर्वाचित प्रतिनिधि होने चाहिए और इंग्लैंड में होने वाली सिविल सर्विस परीक्षाएँ भारत में होनी चाहिए, तब सर सैयद ने कहा था : "आप मानेंगे कि वायसराय के साथ एक ही मेज़ पर बैठने की एक आवश्यक शर्त यह है कि उस व्यक्ति-विशेष का नाम इस देश के समाज में उच्च स्थान पर हो। क्या हमारे देश के उच्च परिवारों के व्यक्ति यह पंसद करेंगे कि एक निम्न वर्ग या निम्न स्तर का व्यक्ति उन पर शासन करे और उनके धन, संपत्ति और प्रतिष्ठा के बारे में निर्णय करे, चाहे उसने बी.ए. और एम.ए. की परीक्षा ही क्यों न पास कर रखी हो और चाहे वह आवश्यक योग्यता भी क्यों न रखता हो ? नहीं, कभी नहीं।"

इन सीमाओं के बावजूद, मुसलमानों को आधुनिक विश्व की सच्चाइयों के प्रति जागरूक बनाने तथा उन्हें इस चुनौती को स्वीकार करने के लिए तैयार करने में सर सैयद का योगदान किसी भी अन्य नेता से अधिक था। वे हिंदुओं और मुसलमानों को एक "कौम" मानते थे। इस शब्द का 'राष्ट्र' के अर्थ में प्रयोग करते हुए उन्होंने कहा था, "अनेक युगों से कौम शब्द का प्रयोग एक देश के निवासियों के लिए किया जाता रहा है, चाहे उसमें विभिन्न समुदायों के व्यक्ति क्यों न हों। ऐ हिंदुओ और ऐ मुसलमानो, क्या तुम भारत से भिन्न किसी अन्य देश के निवासी हो ? तुम इसी देश के निवासी हो और इसी देश में तुम्हारी मृत्यु होगी। याद रखो कि हिंदू और मुसलमान धर्म-द्योतक शब्द हैं अन्यथा इस देश में हिन्दू, मुसलमान और ईसाई जो भी रहते हैं, इस तथ्य के ही कारण एक कौम हैं। जब इन सभी समुदायों को एक कौम कहा जाता है, तो उन्हें इसी तरह देश की भलाई के लिए काम भी करना चाहिए जो वास्तव में सबकी भलाई का काम है।"

अन्य मुस्लिम सुधार-आंदोलन

ऐसे कई दूसरे आंदोलन भी चले, जिन्होंने किसी-न-किसी रूप में मुसलमानों में राष्ट्रीय जागरण लाने में मदद दी। 1899 में मिर्जा गुलाम अहमद ने अहमदिया आंदोलन शुरू किया। इस आंदोलन के अंतर्गत पूरे देश में अनेक स्कूल-कालेज खोले गए जिनमें आधुनिक शिक्षा दी जाती थी। धर्म के क्षेत्र में इस आंदोलन ने इस्लाम के सार्वभौमिक और मानवतावादी स्वरूप पर बल दिया। इसका उद्देश्य सभी समुदायों के व्यक्तियों के बीच सौहार्द्रपूर्ण संबंध स्थापित करना था।

एक और महत्त्वपूर्ण आंदोलन का संबंध उत्तर प्रदेश में सहारनपुर के पास स्थित देवबंद से है जो धार्मिक शिक्षा का केंद्र था। इसकी स्थापना 1857 में ब्रिटिश शासन से लड़ने वाले कुछ उल्मा (मुस्लिम धर्म शास्त्रियों) और उनके अनुयायियों ने की थी। यह ब्रिटिश शासन के विरुद्ध राजनीतिक विद्रोह का केंद्र भी था जहाँ छात्रों को राजनीतिक स्वाधीनता से प्रेम करना सिखाया जाता था। जब सर सैयद मुसलमानों को कांग्रेस से दूर रहने की तथा सरकार-समर्थक पैट्रियाटिक एसोसिएशन में शामिल होने की राय दे रहे थे,

तब देश के और मदीना तथा बग़दाद के लगभग 100 उल्मा ने यह फ़तवा जारी किया था कि मुसलमान इस एसोसिएशन में शामिल न हों। यह फ़तवा उन्हें कांग्रेस में शामिल होने की अनुमति भी देता था। देवबंद स्कूल तथा ऐसे कई आंदोलनों ने स्वतंत्रता की भावना को जीवित रखा।

मुसलमानों के बीच समाजसुधार के कुछ और दूरगामी प्रभाव वाले आंदोलन चले। इन आंदोलनों ने स्त्री-मुक्ति के लिए काम किया और पर्दा, बहुपत्नीवाद तथा बाल-विवाह की प्रथाओं का मुकाबला किया। ये आंदोलन पश्चिमी और दक्षिणी भारत में ख़ासतौर पर मज़बूत थे। इन आंदोलनों के सबसे प्रमुख नेता बदरुद्दीन तैयबजी (1844-1906) थे। वे बंबई के उच्च न्यायालय में वकालत करने वाले पहले भारतीय वकील थे। दूसरे समाज सुधारकों और राष्ट्रीय नेताओं की ही तरह वे भी इंडियन सोशल कांफ्रेंस में सक्रिय थे जिसके बारे में आप पढ़ चुके हैं। उन्होंने फ़ीरोज़शाह मेहता और दूसरे लोगों के साथ मिलकर साझे राष्ट्रीय हितों की उन्नति के लिए बम्बई प्रेसीडेंसी एसोसिएशन की स्थापना की। वे कांग्रेस के संस्थापकों में से एक थे और इसके तीसरे अध्यक्ष चुने गए।

विभिन्न समुदायों के अनेक दूसरे नेताओं ने भी भारतीय समाज़ के जागरण के लिए महत्वपूर्ण काम किए। बहरामजी मलाबारी और पंडिता रामाबाई स्त्री-जाति की भूमिका निभानेवाले दो प्रमुख नेता थे। पारसियों के बीच नौरोजी फ़रदनजी और दादाभाई नौरोजी ने सुधार आंदोलन आरंभ किए। सिखों में शिक्षा के प्रसार में सिंह सभाओं ने अग्रणी भूमिका निभाई। बाद में सिखों के बीच एक शक्तिशाली आंदोलन गुरुद्वारों पर भ्रष्ट महंतों के नियंत्रण को समाप्त करने के लिए उठ खड़ा हुआ।

बीसवीं सदी में महात्मा गांधी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आंदोलन ने जब जन-आंदोलन का रूप ले लिया तो समाज सुधार आंदोलन स्वतंत्रता संघर्ष का अभिन्न अंग बन गया।

सुधार आंदोलनों के प्रभाव

इन आंदोलनों के फ़लस्वरूप स्त्री-मुक्ति के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति हुई। इनकी स्थिति में सुधार के लिए कुछ कानूनी कदम भी उठाए गए। सती और बाल-हत्या की प्रथाओं को पहले ही ग़ैरकानूनी ठहराया जा चुका था। 1856 में विधवा-पुनर्विवाह की छूट देने वाला एक कानून बनाया गया। 1860 में पास एक और कानून के द्वारा लड़कियों के लिए विवाह की न्यूनतम आयु को बढ़ाकर दस वर्ष कर दिया गया जो उन दिनों एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। अनेक अंधविश्वासों का सिक्का भी अब उठने लगा। सदी के समाप्त होने के समय तक विदेश-यात्रा को पाप नहीं समझा जाता था और किसी को फिर से जाति में शामिल होने के लिए लौटने पर प्रायश्चित करना आवश्यक नहीं रहा।

ये सुधार आंदोलन एक-दूसरे से अनेक अर्थों में भिन्न थे, फिर भी इन सबने जनता को परिवर्तन की आवश्यकता का एहसास कराया। जैसा कि आपने देखा, इनमें अधिकांश आंदोलन धार्मिक चरित्र के थे और अपने-अपने धार्मिक समुदायों से संबोधित थे। इसका कारण साफ है चूँकि अधिकांश सामाजिक कुरीतियाँ धार्मिक कर्मकांडों से जुड़ी हुई थीं इसलिए सामाजिक सुधार के इन आंदोलनों का धार्मिक आंदोलन होना लाज़मी था।

भारतीय राष्ट्रवाद के उदय में इन सुधार-आंदोलनों का महान योगदान रहा। ये इक्का-दुक्का क्षेत्रों में नहीं, बल्कि हर जगह जनता को प्रभावित करने वाले देशव्यापी आंदोलन थे। सुधार की इन गतिविधियों ने जनता को एक किया। एकता को भंग करने वाली जाति-प्रथा जैसी संस्थाओं पर होने वाली चोटों ने जनता में एकता की भावना जगाई। इसलिए राष्ट्रवाद के उदय में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही। इनमें से अधिकांश सुधार आंदोलनों की कुछ सीमाएँ थीं। इन्होंने जिन प्रश्नों को महत्व दिया उनमें से कुछेक का संबंध भारतीय समाज के बहुत छोटे-छोटे भागों से था। कुछ यह बात समझने में या ज़ोर देकर कहने में असमर्थ रहे कि औपनिवेशिक शासन बुनियादी तौर पर ही भारतीय जनता के हितों का विरोधी है। इनमें से अधिकांश आंदोलन अपने समुदाय-विशेष के ही दायरे में बँधे रहे और उन्होंने कुछ हद तक धर्म या जाति के आधार पर लोगों की पहचान बनाने में मदद की। राष्ट्रीय आंदोलन, जिससे सामाजिक और धार्मिक सुधारक घनिष्ठतापूर्वक जुड़े थे, के दौरान इनमें से अनेक सीमाओं को दूर करने के प्रयास किए गए। भारतीय राष्ट्रवाद का उद्देश्य जाति या समुदाय से परे रहकर पूरे भारतीय समाज को पुनर्जीवित करना था। अब समाज-सुधार के आंदोलनों का किसी एक समुदाय तक सीमित रहना

अनिवार्य नहीं रह गया। राष्ट्रवादी आंदोलन ने सभी सामाजिक कुरीतियों के प्रश्न को राष्ट्रीय स्तर पर उठाया और उन्हें समुदायों के आधार पर नहीं देखा। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में औपनिवेशिक शासन के शोषक चरित्र की समझ भी उभरने लगी। इस संबंध में अग्रणी थे — दादाभाई नौरोजी जिनका वर्णन पारसी समुदाय के सुधार आंदोलन के संदर्भ में किया जा चुका है। वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संस्थापकों में से थे और तीन बार इसके अध्यक्ष रहे। वे ब्रिटिश संसद में चुने जाने वाले पहले भारतीय थे। इनकी पुस्तक **पावर्टी एंड अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया** ने पढ़े-लिखे वर्गों के राजनीतिक चिंतन को प्रभावित किया। इस पुस्तक में उन्होंने भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए ब्रिटिश शासन के घातक परिणामों को बेनकाब किया। ब्रिटेन द्वारा भारत की संपत्ति के दोहन के उनके सिद्धांत ने ब्रिटिश शासन विरोधी अभियान के लिए आधार तैयार किया। जनता ने उन्हें 'भारत का पितामह' कहकर उनके प्रति अपना प्रेम और सम्मान प्रदर्शित किया। दादाभाई नौरोजी के अलावा जिन दूसरे नेताओं ने अंग्रेजों द्वारा भारत के आर्थिक शोषण के प्रति चेतना जगाने में प्रमुख भूमिकाएँ निभाईं, वे थे – महादेव रानाडे, जी. वी. जोशी और रोमेशचंद्र दत्त।

शिक्षा का प्रसार

जैसा कि आप पढ़ चुके हैं, लगभग सभी सुधार-आंदोलनों का उद्देश्य भारत में आधुनिक शिक्षा का प्रसार करना था, क्योंकि समाज के आधुनिकीकरण में इसकी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

19 वीं सदी के आरंभिक वर्षों में ईस्ट इंडिया कंपनी की सरकार ने शिक्षा के प्रति लापरवाही की नीति अपनाई, क्योंकि इसे एक व्यापारिक कंपनी की ज़िम्मेदारी नहीं समझी जाती थी। परंपरागत शिक्षा-प्रणाली मंदिरों और मस्जिदों में स्थित छोटी-छोटी पाठशालाओं और मदरसों पर आधारित थी और मुख्यत: धार्मिक शिक्षा तक सीमित थी। ब्रिटिश शासन काल में इस प्रणाली का ह्रास हुआ। आधुनिक शिक्षा के प्रसार के लिए पहले-पहल ईसाई मिशनरियों और कंपनी के कुछ अधिकारियों द्वारा प्रयास किए गए। इन मिशनरियों ने स्कूल खोले और छापाखाने लगाए। उन्होंने अनेक पुस्तकें छापीं। हालाँकि उनका प्रमुख उद्देश्य अपनी शिक्षा-संस्थाओं द्वारा ईसाइयत का प्रसार करना था फिर भी उन्होंने आधुनिक शिक्षा के प्रसार में अग्रणी भूमिका निभाई।

आधुनिक शिक्षा का आरंभ

अनेक भारतीय अब अधिकाधिक यह महसूस करने लगे थे कि आधुनिक युग की चुनौतियों का सामना करने के लिए आधुनिक शिक्षा आवश्यक है। उन्होंने शिक्षा-संस्थाएँ खुलवाने के लिए सरकार पर दबाव डाले। कुछ सरकारी अधिकारियों और यूरोपियों की सहायता से कुछ प्रगति भी हुई। एक *अत्यंत महत्वपूर्ण उपलब्धि थी– 1817 में* कलकत्ता में हिंदू कालेज की स्थापना। राममोहन राय और डेविड हेयर जैसे अनेक उदारवादी यूरोपीय लोग इस कालेज की स्थापना से जुड़े थे। इसके कारण कलकत्ता में एक नया बौद्धिक वातावरण बना। यह कालेज उस समय के सबसे उग्र आंदोलन का केंद्र बन गया जिसे तरुण बंगाल आंदोलन (यंग बंगाल मूवमेंट) कहा जाता है। इस आंदोलन के प्रमुख नेता हेनरी लुई विवियन देरोजियो नामक एक पुर्तगाली-भारतीय युवक थे। उन्होंने दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक के रूप में 1826 में हिंदू कालेज में काम आरंभ किया। तब उनकी आयु मात्र 17 वर्ष थी। युवकों की एक पूरी पीढ़ी पर उनका प्रभाव पड़ा और उन्होंने बुद्धि संगत और वैज्ञानिक ढंग से अपने आप सोचना आरंभ किया। उन्होंने अपने छात्रों में स्वतंत्र चिंतन, स्वाधीनता और देश के प्रति प्रेम की भावना जगाई। वे एक कवि थे और अपनी कविताओं में उन्होंने भारत के प्रति अपने प्रेम को अभिव्यक्त किया।

नास्तिकता के प्रचार का आरोप लगाकर उन्हें कालेज से निकाल दिया गया और इसके बाद शीघ्र ही उनकी मृत्यु हो गई। उनका जीवन उस नए बौद्धिक वातावरण का प्रतीक था जो आधुनिक शिक्षा के प्रसार के फलस्वरूप विकसित हो रहा था। भारतीय छात्र अब फ्रांसीसी दार्शनिकों के क्रान्तिकारी विचारों से और दूसरे यूरोपीय देशों के लोकतांत्रिक विचारों से परिचित होने लगे थे। आधुनिक

शिक्षा देने के लिए अनेक भारतियों ने स्कूल और कालेज खोले।

ब्रिटिश सरकार की शिक्षा-नीति

अपनी आरंभिक उदासीनता के बाद ब्रिटिश सरकार आधुनिक शिक्षा के प्रसार का प्रमुख साधन थी। इस परिवर्तन का एक कारण छोटी सरकारी नौकरियों में भारतियों की जरूरत थी। ब्रिटिश शासन के मज़बूती पाने के बाद प्रशासन का काम बढ़ गया था और सभी कामों के लिए इंग्लैंड से लोगों को बुलाना संभव न था। प्रशासन, व्यापारिक गतिविधियों और उद्योगों में छोटे-मोटे कामों के लिए लोगों की आवश्यकता थी। वकीलों, डॉक्टरों, अध्यापकों और अन्य पेशेवर लोगों की भी ज़रूरत थी। इन सभी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए कुछेक भारतियों को अंग्रेज़ी शिक्षा देना आवश्यक था। अनेक ब्रिटिश प्रशासक यूरोपीय संस्कृति को दूसरी सभी संस्कृतियों से श्रेष्ठ समझते थे और उसके प्रचार के प्रति इन लोगों के जोश ने भी अंग्रेज़ी शिक्षा के आरंभ में एक भूमिका निभाई। इस काम में उनको सहयोग राममोहन राय जैसे अनेक भारतियों ने दिया जो अंग्रेज़ी शिक्षा को भारत की जनता में आधुनिक ज्ञान के प्रसार का साधन मानते थे।

सरकार ने इस दिशा में पहला कदम 1813 में उठाया जब यह फैसला किया गया कि शिक्षा के लिए कम-से-कम एक लाख रुपये खर्च किए जाएँगे। इसके कारण अंग्रेज़ी और प्राच्य शिक्षा के समर्थकों में फौरन एक विवाद उठ खड़ा हुआ। अंग्रेज़ी शिक्षा के समर्थकों का नेता मैकाले था जिसने अंग्रेज़ी के माध्यम से पश्चिमी ज्ञान की शिक्षा की वकालत की। प्राच्य शिक्षा के कुछ समर्थक संस्कृत, फारसी और अरबी की शिक्षा को प्रोत्साहन देने के पक्ष में थे और कुछ स्थानीय भाषाओं में आधुनिक ज्ञान की शिक्षा देने के समर्थक थे। सरकार ने अंततः अंग्रेज़ी शिक्षा के समर्थकों का साथ दिया और स्पष्ट रूप से कहा कि, "भविष्य में सारा धन भारतीय जनता को अंग्रेज़ी साहित्य और अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से विज्ञान की शिक्षा देने में खर्च किया जाए"। कुछ ही समय बाद अदालतों में फारसी भाषा का उपयोग बंद कर दिया गया और सरकार सरकारी नौकरियों के लिए अंग्रेज़ी जानने वाले उम्मीदवारों को प्राथमिकता देने लगी।

ब्रिटिश-विजय के कारण देश की परंपरागत शिक्षा प्रणाली को बहुत धक्का लगा था। इस प्रणाली के कारण भारतीय जनता के एक बड़े भाग को कम-से-कम पढ़ना-लिखना तथा गणित सीखने की सुविधा प्राप्त थी मगर ब्रिटिश सरकार ने जनसाधारण में शिक्षा के प्रसार की कोई जिम्मेदारी नहीं ली। फलस्वरूप प्राथमिक शिक्षा को अनदेखा किया गया।

दूसरा महत्वपूर्ण कदम 1854 में उठाया गया जब वुड ने अपनी योजना भारत भेजी। इस योजना के तहत सरकार ने शिक्षा के प्रसार पर और भी ध्यान देने का फैसला किया। स्कूली स्तर पर अंग्रेज़ी के साथ स्थानीय भाषाओं को भी शिक्षा का माध्यम बनाया गया। कालेज स्तर पर शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी ही रही। योजना में पश्चिमी संस्कृति के प्रसार को शिक्षा का उद्देश्य बतलाया गया था और कहा गया कि इसका उद्देश्य भारतीय छात्रों में शासन के प्रति निष्ठा की भावना विकसित करना तथा प्रशासकीय उत्तरदायित्व के लिए उन्हें तैयार करना है।

मगर शिक्षा के प्रसार के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति 19वीं सदी के अंतिम वर्षों में ही हुई। उस समय तक शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना में भारतियों की अपनी भूमिका बहुत महत्वपूर्ण हो चुकी थी। बंबई में दकन एजूकेशनल सोसायटी की स्थापना हुई और इसने सराहनीय काम किया। शिक्षा-प्रसार और खासकर स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में अनेक सुधारकों की गतिविधियों का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।

शिक्षा का प्रभाव

मिशनरियों, ब्रिटिश सरकार, भारतियों और उनके संगठनों, सभी की गतिविधियों के बावजूद शिक्षा थोड़े से लोगों तक ही सीमित रही। प्राथमिक शिक्षा की अनदेखी करने और परंपरागत शिक्षा प्रणाली के विनाश के कारण भारतीय जनता का एक बहुत बड़ा भाग निरक्षर हो गया। अंग्रेज़ी शिक्षा समर्थकों को आशा थी कि इससे वे भारतियों का ऐसा वर्ग उत्पन्न कर सकेंगे जो विचारों और आदतों में अंग्रेज़ों के समान हो फिर भी, अंग्रेज़ी शिक्षा ने शिक्षित भारतियों और शेष जनता के बीच एक खाई पैदा कर दी, तो भी इसके कारण भारतीय बुद्धिवादी और वैज्ञानिक विज्ञान और

प्रौद्योगिकी के संपर्क में आए। हालाँकि इसका उद्देश्य लोगों को छोटी प्रशासनिक नौकरियों के लिए प्रशिक्षित करना था मगर इसके कारण ज्ञान का प्रसार हुआ और लोकतंत्र, राष्ट्रवाद और बीसवीं सदी में समाजवाद के विचार फैले। एक और महत्वपूर्ण परिवर्तन यह आया कि शिक्षा किसी जाति या पंथ विशेष तक सीमित न रही। यह सभी के लिए उपलब्ध थी फिर भी, अंग्रेज़ी शिक्षा शुद्धतः लाभकारी न थी। यह शिक्षा प्रणाली इसलिए नहीं बनी थी कि भारतीय जनता के हितों के बारे में सोचना सिखाए बल्कि इसने एक ऐसे वर्ग को जन्म दिया जो अपने को भिन्न तथा बाकी समाज से अलग समझता था।

अतीत का पुनरान्वेषण

कालांतर में आधुनिक शिक्षा के कारण भारत के अतीत की सही समझ के प्रति दिलचस्पी जागी। वर्तमान की समझ को पुख़्ता बनाने के लिए भारत के अतीत की फिर से खोज और अध्ययन करने के प्रयास होने लगे। इस दिशा में अनेक यूरोपीय विद्वानों तथा प्रबुद्ध सरकारी अधिकारियों ने सराहनीय प्रयास किए। प्रथम महत्वपूर्ण कार्य विलियम जोन्स ने किया जो 1783 में भारत आए और 1784 में एशियाटिक सोसायटी की स्थापना की। इस सोसायटी का उद्देश्य "एशिया के इतिहास, उसकी प्राचीनता, उसकी कलाओं, विज्ञान और साहित्य की छानबीन करना था।" इस सोसायटी ने विभिन्न भाषाओं में प्राचीन पांडुलिपियों का एक विशाल भंडार जमा किया और विद्वतापूर्ण पत्रिका **जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल** का प्रकाशन किया। स्वयं विलियम जोन्स ने कालिदास के नाटक अभिज्ञानशाकुंतलम् का अनुवाद किया। भगवद्गीता, उपनिषदों, धर्मशास्त्रों और वेदों जैसी अनेक प्राचीन कृतियों के अनुवाद भी हुए। प्राचीन भारतीय इतिहास के बारे में उपयोगी काम किए गए। उदाहरण के लिए, जेम्स प्रिंसेप ने अशोक के शिलालेखों को पढ़ने में सफलता पाई जिससे उस महान सम्राट की उपलब्धियों का पता चला। प्राचीन ग्रंथों को समझने में कामयाबी मिली और प्राचीन शिलालेखों के अध्ययन से भारतीय इतिहास और सभ्यता के अध्ययन के नए आयाम उभरे। प्राचीन स्मारकों, चित्रों और मूर्तियों के संरक्षण का काम शुरू किया गया। भारतीय कला का समुचित मूल्यांकन होने लगा। वैज्ञानिक आधारों पर संस्कृत का अध्ययन आरंभ किया गया। यूरोप के कई दूसरे देशों, खासकर जर्मनी और फ़्रांस के विद्वान भारत की प्राचीन कलाओं, इतिहास और दर्शन के अध्ययन के प्रति आकृष्ट हुए।

ब्रिटिश सरकार ने अनुभव किया कि भारत पर शासन करने के लिए भारतीय इतिहास, समाज, यहाँ के धर्मों और संस्कृति का ज्ञान आवश्यक है। इस कारण सरकार ने भारतीय संस्थाओं के अध्ययन को प्रोत्साहित किया। अनेक यूरोपीय विद्वानों और सरकारी अधिकारियों ने भारतीय समाज और इतिहास पर पुस्तकें लिखीं। इनमें से कुछ एक ग्रंथ पूर्वाग्रहों से भरे थे और वे यह दिखलाना चाहते थे कि भारत का अतीत दु:खों से भरा था और इसलिए ब्रिटिश शासन भारतीय जनता के लिए एक 'वरदान' था। उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच दरार भी पैदा की।

भारत के अतीत संबंधी इस नए ज्ञान का एक बड़ा भाग भारतीय जनता को गर्व का अनुभव कराने वाला था और इसने उनकी जागृति में सहायता पहुँचाई। अनेक भारतीय विद्वानों ने व्यवस्थित ढंग से भारतीय इतिहास और संस्कृति का अध्ययन आरंभ किया। विशिष्टतः भारतीय दृष्टिकोण से भारत का अध्ययन आरंभ हुआ। हालाँकि कुछेक अध्ययनों ने हरेक प्राचीन वस्तु को महिमामंडित किया, फिर भी इससे भारतियों को उनका खोया हुआ गर्व और आत्मविश्वास वापस मिला और वे राष्ट्रीय स्वाधीनता तथा उसके बाद के पुनर्निर्माण-कार्य के लिए तैयार हुए।

आधुनिक भारतीय कला और साहित्य

ब्रिटिश सरकार ने अंग्रेज़ी के अध्ययन के आगे भारतीय भाषाओं को गौण स्थान दिया था, फिर भी आधुनिक विचारों के प्रभाव के कारण उनका विकास तेज हुआ। आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास लगभग एक हजार वर्ष पहले आरंभ हुआ था और अब तक वे परिपक्व और पुष्ट हो चुकी थीं। उन्नीसवीं सदी में ये भाषाएँ और भी समृद्ध हुईं। लेखकों ने उपन्यास और नाटक जैसे नए-नए साहित्यिक रूपों और पद्धतियों का प्रयोग किया। यह नया विकास रूप में ही नहीं बल्कि अंतर्तत्व में भी हुआ। उपन्यासों और नाटकों में वर्तमान समस्याएँ अधिकाधिक उठाई जाने लगीं।

यहाँ तक कि ऐतिहासिक उपन्यास और नाटक भी वर्तमान को दृष्टि में रखकर लिखे गए। बंगला भाषा के प्रथम राजनीतिक नाटक **नील दर्पण** ने अंग्रेज़ निलहों के अत्याचारों की कहानी कही। ब्रिटिश सरकार ने इस नाटक पर फौरन प्रतिबंध लगा दिया। पौराणिक साहित्य की जगह अब सामाजिक और यथार्थवादी साहित्य की अधिकाधिक रचना की जाने लगी। कविता में भी परिवर्तन आया। अब वह भजनों तक सीमित न रहकर लौकिक और राष्ट्रीय विषयों को अधिकाधिक उठाने लगी। उभरती हुई राष्ट्रीय चेतना से इस नए साहित्य का संबंध घनिष्ठ से घनिष्ठतर होता गया। बीसवीं सदी के आने तक साहित्य के ये नए रूप पूरी तरह विकसित हो चुके थे और जनता के दृष्टिकोण में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे थे।

चित्रकला का पुनरुत्थान हुआ। चित्रकला की, कभी की भूली जा चुकी अजंता, मुग़ल और पहाड़ी शैलियों को नया जीवन मिला और उनका विकास हुआ। बाद में कला की ऐसी प्रवृत्तियाँ उभरीं जो समकालीन पश्चिमी शैलियों से बहुत प्रभावित थीं। कला और साहित्य के विकास ने आधुनिक संस्कृति के विकास में भी योगदान किया।

उन्नीसवीं सदी में प्रेस का विकास

प्रेस समाज के एकीकरण की एक महत्वपूर्ण शक्ति होती है। यह देश के एक भाग की जनता को दूसरे भागों में हो रही घटनाओं से परिचित कराती है। विभिन्न समस्याओं के बारे में ज्ञान के प्रसार का यह एक महत्वपूर्ण माध्यम है। किसी काल के महत्वपूर्ण विषयों पर जनमत तैयार करने का यह साधन भी है। समाजसुधार के अभियानों में और शासन के कार्यों को प्रभावित करने में इसकी सहायता महत्वपूर्ण होती है। जनहित के विषयों पर जनता के विचारों की अभिव्यक्ति के लिए यह एक मंच का कार्य करता है।

भारत में प्रेस का विकास उन्नीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में आरंभ हुआ और इसने जनता को जागृत बनाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

भारत का पहला समाचार-पत्र 1780 में स्थापित बंगाल गजट था। मगर प्रेस का वास्तविक विकास उन्नीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में ही हुआ। राममोहन राय ने दो पत्रों, बंगला में **संवादकौमुदी** और फारसी में **मिरातुलअखबार** का आरंभ किया। इनका उद्देश्य समाज-सुधार के विचारों को फैलाना था। भारत में प्रेस के विकास से अनेक दूसरे राष्ट्रीय नेता और समाज-सुधारक भी जुड़े रहे। दादाभाई नौरोजी **रस्त-गुफ्तार** का संपादन करते थे। **इंडियन सोशल रिफार्मर** नामक एक अंग्रेज़ी साप्ताहिक पत्र का आरंभ बंबई में 1890 में किया गया।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में अनेक अंग्रेज़ी दैनिक पत्रों की स्थापना हुई; इनमें से कई अभी भी भारत के लोकप्रिय समाचार-पत्र हैं। इनमें 1861 में स्थापित **दि टाइम्स आफ इंडिया, दि पायनियर** (1865), और **दि स्टेटसमैन** (1875) शामिल हैं। ये पत्र आमतौर पर ब्रिटिश सरकार की नीतियों के समर्थक थे। भारतीय दृष्टिकोण को सामने रखने वाले भी कुछ दैनिक पत्र थे, जैसे बंगाल में 1868 में स्थापित **अमृत बाज़ार पत्रिका** और मद्रास में 1878 में स्थापित **दि हिन्दू**। भारतीय भाषाओं में भी समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं का आरंभ हुआ। उन्नीसवीं सदी के अंत तक देश के विभिन्न भागों में भारतीय भाषाओं और अंग्रेज़ी में लगभग 500 पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन होने लगा था। राष्ट्रीय आंदोलन के विकास के साथ-साथ भारतीय प्रेस का विकास भी हुआ और उसने जनता में राष्ट्रीय चेतना जगाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। बाल गंगाधर तिलक द्वारा स्थापित मराठी पाक्षिक पत्र **केसरी** ऐसा ही पत्र था।

भारतीय प्रेस पर सेंसर लगाने के लिए ब्रिटिश सरकार ने समय-समय पर अनेक कानून बनाए। बींसवी सदी में राष्ट्रवादी प्रेस और शक्तिशाली हुआ तो प्रेस की स्वतंत्रता और भी कम कर दी गई। मगर दमन के बावजूद प्रेस ने सुधारों की आवश्यकता के प्रति जनता को जागरूक बनाने में अपनी भूमिका अदा की, ज्ञान के प्रसार में मदद पहुँचाई और राष्ट्रवाद के विकास का एक प्रमुख साधन बन गया।

सामाजिक और धार्मिक सुधार के आंदोलन भारतीय जनता की जागृति के प्रतीक थे। अपनी सीमित प्रकृति के बावजूद शिक्षा ने नए विचारों के बारे में और विश्व के बारे में चेतना जगाई और भारत के पुनर्निर्माण के विचारों को पुख्ता बनाया। भारत के अतीत के पुनरान्वेषण और नए साहित्य के विकास में उभरती हुई चेतना की अभिव्यक्ति

हुई और इन्होंने इस चेतना को और भी बढ़ाया। ये सभी परिवर्तन भारत के राष्ट्रीय जागरण के प्रतीक थे और इस जागरण को और विकसित करने में इनका योगदान रहा। राष्ट्रवाद स्वाधीनता तथा लोकतंत्र और सामाजिक समानता पर आधारित एक नई व्यवस्था को भारतीय जनता की आकांक्षाओं का प्रतीक बन गया। आप इसके बारे में अगले अध्याय में पढ़ेंगे।

अभ्यास

जानकारी के लिए

1. निम्नलिखित शब्दों की व्याख्या कीजिए : घरेलू प्रणाली, आंग्लवादी (अंग्रेंजी के समर्थक), प्राच्यवादी (पूर्वी शिक्षा प्रणाली के समर्थक), सती, इस्तमरारी बंदोबस्त, रैयतवारी प्रथा।
2. निम्नलिखित व्यक्तियों का किन-किन संगठनों से संबंध था : महादेव गोविंद रानाडे, राममोहन राय, देरोजियो, दादाभाई नौरोजी, दयानंद सरस्वती, सर सैयद अहमद खान, बदरुद्दीन तैयबजी, विवेकानंद, एनी बेसेंट, नवाब अब्दुल लतीफ़, केशवचंद्र सेन, ज्योतिबा फूले, श्रीनारायण गुरु ?
3. ब्रिटिश-विजय के बाद भारत में किन नए सामाजिक वर्गों का उदय हुआ ?
4. उन सामाजिक कुरीतियों का वर्णन कीजिए जिनके ख़िलाफ़ सुधार आंदोलन चलाए गए। किन्हीं तीन कुरीतियों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
5. आंग्लवादियों तथा प्राच्यवादियों के बीच किन-किन बातों को लेकर विरोध था ?
6. उन्नीसवीं सदी में भारत में आधुनिक शिक्षा के प्रसार की प्रमुख अवस्थाओं का वर्णन कीजिए। इस काल में अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रसार में किन संस्थाओं ने सहायता दी ?
7. उन्नीसवीं सदी में आरंभ होने वाले कुछ ऐसे समाचार-पत्रों के नाम बतलाइए जो आज भी प्रकाशित हो रहे हैं।

करने के लिए

1. समाज-सुधार के विभिन्न संगठनों की सूची उनकी स्थापना के क्रम के अनुसार बनाइए और उनसे जुड़े हुए प्रमुख नेताओं के नाम लिखिए।
2. राममोहन राय के जीवन और कार्य पर एक निबंध लिखिए।
3. समाज-सुधार के आंदोलनों के नेताओं के चित्र किसी एलबम में लगाइए और उनकी कुछ उक्तियाँ भी दर्ज कीजिए।

विचार और वाद-विवाद के लिए

1. 'आधुनिकीकरण' से आप क्या अर्थ लगाते हैं ? भारतीय समाज 19 वीं सदी के आरंभ में किन अर्थों में 'आधुनिक' नहीं था ?
2. आपके विचार में क्या धर्म को समाज-सुधार से जोड़ना आवश्यक या वांछनीय था ? क्यों ? या क्यों नहीं ?
3. आपके विचार में समाजसुधार के आंदोलन भारतीय समाज की बुराइयों को दूर करने में किस सीमा तक सफल रहे ? ऐसी कौन-सी बुराइयाँ हैं जो आज भी आप मौजूद पाते हैं और जिनको समाप्त करने के लिए सुधार आंदोलन चलाए जाने चाहिएं ?

4. क्या भारत में जागरण लाने में आधुनिक शिक्षा सहायक हुई ? अपने उत्तर की व्याख्या कीजिए।
5. भारतीय संविधान के भाग 3 और भाग 4 का अध्ययन कीजिए, जो क्रमशः मौलिक अधिकारों और राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांतों से संबंधित हैं। ये दोनों भाग 19 वीं सदी के सुधारकों के उद्देश्यों पर कहाँ तक आधारित हैं और इन उद्देश्यों को इन्होंने किस सीमा तक आगे बढ़ाया है ?

भारत का स्वाधीनता संघर्ष

विदेशी शासन से मुक्ति पाने के लिए भारतीय जनता का बहादुराना संघर्ष भारतीय राष्ट्रवाद के उदय और विकास का परिणाम था। उन्नीसवीं सदी में ब्रिटिश शासन द्वारा पैदा की गई परिस्थितियों के कारण भारतीय राष्ट्रवाद का उदय हुआ। ब्रिटिश शासन का उद्देश्य केवल ब्रिटेन के शासक वर्गों के हितों की पूर्ति करना था। यह बात ब्रिटिश सरकार और भारतीय जनता के बीच मूलभूत प्रतिरोध का स्रोत थी।

दुनिया में हर जगह के मानव-समाज के विकास के एक निश्चित चरण में राष्ट्रवाद का उदय हुआ है। आंतरिक प्रक्रियाओं के कारण भारतीय-समाज का जो विकास होता वह ब्रिटिश-विजय के कारण छिन्न-भिन्न हो गया। इसलिए साम्राज्यवाद द्वारा विजित दूसरे देशों की तरह भारत में भी राष्ट्रवाद का जन्म विदेशी शासन से जन्मी परिस्थितियों में हुआ। राष्ट्रवाद के विकास के साथ-साथ भारतीय जनता की माँगें भी अधिकाधिक राष्ट्रवादी होती गईं। पहले उन्होंने राजनीतिक सत्ता में भागीदारी की माँग की और फिर पूर्ण स्वाधीनता की माँग उठाने लगे। संघर्ष का चरित्र भी धीरे-धीरे बदलता गया। आरंभ में शिक्षित लोगों के एक छोटे से भाग ने सांविधानिक आंदोलन चलाया फिर धीरे-धीरे यह संघर्ष बहुसंख्यक भारतीय जनता के क्रांतिकारी संघर्ष में बदल गया। यह संघर्ष शांतिपूर्ण था परंतु सांविधानिक न था। राजनीतिक स्वाधीनता के संघर्ष के साथ-साथ यह लोकतंत्र और सामाजिक समानता के आधार पर भारतीय समाज के पुनर्निर्माण का संघर्ष भी बन गया।

1857 का महाविद्रोह

ब्रिटिश-विजय के आरंभ से ही देश के विभिन्न भागों की जनता कभी अपनी राजनीतिक दासता से प्रसन्न नहीं रही। कोई साल भी ऐसा न गुजरा जब देश के किसी-न-किसी भाग में ब्रिटिश सत्ता का सशस्त्र विरोध न हुआ हो। इनमें से कुछ प्रमुख विद्रोह ये थे–1763 के बाद बंगाल और बिहार में संन्यासियों का विद्रोह, किसानों के विद्रोह (1766 में मिदनापुर, 1783 में रंगपुर, 1830-31 में मैसूर और 1852 में खानदेश में), सरदारों और दूसरे भूस्वामियों के विद्रोह (1795-1805 में रामनाथपुरम, शिवगंगा और दूसरी जगहों पर पोलिगरों का विद्रोह, 1808-09 में त्रावनकोर में वेलु थंबी का विद्रोह, 1824-29 में किट्टूर में रानी चिनम्मा का विद्रोह, आदि), आदिवासियों के विद्रोह (1817-31 में भीलों, 1820-37 में कोलों, 1829-33 में ऊ तिरोत सिंह के नेतृत्व में ख़ासियों, 1855-56 में संथालों के विद्रोह, आदि)। कुछ सैनिक विद्रोह भी हुए, जैसे 1806 में वेल्लूर का विद्रोह। मगर ये सभी विद्रोह छिटपुट और स्थानीय थे, हालाँकि वे वर्षों तक चलते रहे मगर उनके कारण ब्रिटिश शासन को किसी गंभीर चुनौती का सामना नहीं करना पड़ा। मगर वह महाविद्रोह जिसने ब्रिटिश शासन की जड़ें तक हिला दीं, 1857 में हुआ।

इस विद्रोह की शुरुआत 10 मई, 1857 को मेरठ में हुई जब भारत की ब्रिटिश सेना के भारतीय सिपाही उठ खड़े हुए। यह वर्षों से जमा हो रहे रोष का परिणाम था। इस रोष का आरंभ ब्रिटिश-विजय के साथ ही हुआ था, मगर चर्बीदार कारतूसों की घटना से यह भड़क उठा परंतु वास्तव में विद्रोह के कई और भी ठोस कारण थे।

आप ब्रिटिश शासन के आर्थिक और सामाजिक परिणामों के बारे में पिछले अध्याय में पढ़ चुके हैं। किसानों से उनकी जमीनें छिन गईं थीं। दस्तकार तबाह हो गए थे। अंग्रेज़ों

द्वारा इलाके हड़पने की नीति के कारण अनेक भारतीय शासक सत्ताच्युत हो गए थे। इस सबके परिणामस्वरूप व्यापक असंतोष फैला हुआ था। डलहौजी जब गवर्नर जनरल बनकर भारत आया तो 8 वर्षों के अपने कार्यकाल में उसने नौ नए राज्यों को हड़पा। अनेक लोगों के मन में यह भय भी था कि ब्रिटिश सरकार उन्हें मजबूर करके ईसाई बनाना चाहती है। ब्रिटिश सरकार को भारतीय जनता के धार्मिक विश्वासों की कोई चिंता न थी, इसका पता चर्बीदार कारतूसों की घटना से हो गया। इस तरह ब्रिटिश शासन ने बड़ी संख्या में जनता और अनेक पुराने शासकों को अपना शत्रु बना लिया था और यह असंतोष धीरे-धीरे बढ़ता ही जा रहा था। 1835-36 में लार्ड मेटकाफ़ गवर्नर-जनरल था तब उसने लिखा था, " पूरे भारत की निगाहें हर वक्त हमारे पतन पर लगी हुई हैं। हमारे विनाश पर हर जगह जनता खुश होगी या खुश होने की कल्पना करेगी और ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो अपनी पूरी शक्ति लगाकर वह दिन करीब लाना चाहेंगे।'' इसके बीसेक वर्षों के अंदर ही विद्रोह भड़क उठा।

यह विद्रोह जल्द ही पूरे उत्तरी, पूर्वी और मध्य भारत में फैल गया। नाममात्र के मुगल बादशाह बहादुरशाह जफ़र को विद्रोहियों ने भारत का सम्राट घोषित कर दिया। हिंदू और मुसलमान कंधे-से-कंधा मिलाकर अंग्रेज़ों से लड़े। झाँसी की रानी, मौलवी अहमदुल्लाह, कुँवरसिंह, बख़्त ख़ान और तात्या टोपे जैसे विद्रोही नेताओं के कारनामे गाथा बनकर जनता में फैल गए और आने वाली पीढ़ी को प्रेरणा देते रहे।

एक साल से अधिक समय तक चली एक बड़ी लड़ाई के बाद विद्रोह को कुचल दिया गया, यद्यपि इसके बावजूद 1859 तक शांति स्थापित न हो सकी। ब्रिटिश सरकार ने निर्मम होकर बिना किसी भेद के सबसे बदला लिया। दिल्ली, लखनऊ और दूसरी जगहों पर हजारों लोगों को फाँसी दे दी गई। सरकार के अमानवीय प्रतिशोध का इंग्लैंड तक में विरोध हुआ। अनेक अंग्रेज़ों ने ब्रिटिश शासकों की बर्बरता का विरोध किया और भारतीय जनता के साथ सहानुभूति और समर्थन व्यक्त किया। इस विद्रोह और उसके दमन ने जनता के बीच अंग्रेज़ों के प्रति कड़वाहट और घृणा के बीज बो दिए।

इस महाविद्रोह से भारत के इतिहास में एक नया मोड़ आया। ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन समाप्त हो गया और ब्रिटिश सम्राट के हाथों में अधिकार आ गया। ब्रिटिश सरकार ने वचन दिया कि अब किसी भारतीय रजवाड़े का अधिग्रहण वह नहीं करेगी। भारतीय रजवाड़ों ने ब्रिटिश शासन की छत्रछाया स्वीकार कर ली और उसके वफ़ादार सहयोगी बन गए।

विद्रोह ने भारतीय जनता की राजनीतिक चेतना को और बढ़ाया। समाज-सुधार और आधुनिकीकरण के आंदोलन पहले ही आरंभ हो चुके थे। अब इन आंदोलनों में तेज़ी आई। भारतीय जनता पर भारतीय शासकों का प्रभाव कम हुआ। अधिक-से-अधिक यह बात महसूस की जाने लगी कि राष्ट्रीय स्वाधीनता खुद जनता के संघर्षों से मिल सकती है न कि पुराने शासकों के नेतृत्व में। भारतीय रजवाड़ों के शासकों के ख़िलाफ संघर्ष भी राष्ट्रीय स्वाधीनता के संघर्ष का अंग बन गया। विद्रोह की सबसे महत्वपूर्ण देन थी–एक साझे संघर्ष की याद। जल्द ही भारत में एक राष्ट्रवादी आंदोलन का आरंभ हुआ, जिसके लक्ष्य राष्ट्रीय स्वाधीनता, लोकतंत्र, सामाजिक समानता और राष्ट्रीय विकास थे।

भारतीय राष्ट्रवाद का आरंभिक चरण (1858-1905)

विश्व-इतिहास में राष्ट्रवाद का उदय मध्ययुग के अंत के बाद हुआ। राष्ट्रवाद सामंतवाद को समाप्त करने वाली नई सामाजिक और आर्थिक शक्तियों का परिणाम था। इन नए राष्ट्र-राज्यों की एक निश्चित सीमा होती थी, उस सीमा के अंदर एक निश्चित राजनीतिक प्रणाली थी। पूरी सीमा में एक समान कानून थे और जनता एक ही राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रणाली के अंतर्गत रहती थी और उसकी समान आकांक्षाएँ थीं। राष्ट्र-राज्यों के उदय में मध्य वर्गों की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। इटली और जर्मनी जैसे अनेक यूरोपीय देशों में राजनीतिक शक्ति के रूप में राष्ट्रवाद का उदय उन्नीसवीं सदी में ही हो सका। 1789 की फ्रांसीसी क्रांति ने राष्ट्रवाद में एक नया तत्व जोड़ा।

इसने राष्ट्र को जनता का पर्याय बना दिया। इसका अर्थ यह है कि किसी भी राष्ट्र में वहाँ की जनता ही प्रभुतासंपन्न होती है। लगभग 1800 के बाद जहाँ कहीं भी नए प्रभुतासंपन्न राज्यों का उदय हुआ या पहले से मौजूद किसी राष्ट्र में हिंसक और द्रुतगति से राजनीतिक व्यवस्था का परिवर्तन हुआ तो इसका कारण दो शक्तियों – राष्ट्रवाद और लोकतंत्र का संयोग रहा है।

भारत में राष्ट्रवाद का विकास उन्नीसवीं सदी में हुआ। देश का राजनीतिक एकीकरण, भारत की पुरानी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का विनाश, आधुनिक व्यापार और उद्योग का आरंभ और नए सामाजिक वर्गों का जन्म–इनके कारण ही राष्ट्रवाद की बुनियाद पड़ी। सामाजिक और धार्मिक सुधार के आंदोलनों तथा ब्रिटिश-विरोधी जनविद्रोहों ने भी राष्ट्रवाद के विकास में योगदान दिया।

ब्रिटिश शासन भारत के लगभग सभी वर्गों के हितों का विरोधी था। किसान अंग्रेज़ों द्वारा लागू की गई नई भूमि व्यवस्था से परेशान थे। ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीतियों के कारण भारतीय उद्योगपति दु:खी थे। उदाहरण के लिए 1882 में सूती वस्त्रों के आयात पर से सभी शुल्क हटा लिए गए, जिससे नवजात भारतीय वस्त्र-उद्योग को धक्का लगा। भेदभाव के कारण शिक्षित लोग भी परेशान थे। भारतीय समाज के लगभग सभी वर्गों को लगने लगा कि ब्रिटिश शासन में उनके हित सुरक्षित नहीं हैं। यह बात भारतीय जनता समझने लगी कि ब्रिटिश शासन जब तक समाप्त नहीं होता, देश का विकास असंभव है। इन सभी बातों ने भारतीय जनता को एक राष्ट्र के रूप में ढाला और उसकी चेतना राष्ट्रीय स्वाधीनता के संघर्ष में अभिव्यक्त हुई।

भारतीय जनता की राष्ट्रीय चेतना को बढ़ाने में दूसरे कई कारणों का भी योगदान रहा है। अंग्रेज़ शासकों द्वारा भारत के शोषण तथा उनकी नीतियों के कारण हुई गड़बड़ियों ने पहले से ही गरीब जनता की हालत और बिगाड़ दी। अकालों का एक सिलसिला आया, जिनमें निरंकुश ब्रिटिश प्रशासन की लापरवाही के कारण करोड़ों लोगों की जानें गईं। ब्रिटिश सरकार ने भारत के संसाधनों का उपयोग करके एशिया के दूसरे भागों में अपने साम्राज्यवादी उद्देश्य पूरे किए। गवर्नर-जनरल (जो बाद में वायसराय भी था) देश का सर्वोच्च प्रशासक होता था और वह केवल हज़ारों मील दूर स्थित ब्रिटिश संसद के प्रति जिम्मेदार होता था। उसकी सहायता के लिए कार्यकारी और विधायी परिषदें होती थीं जिनके सदस्य मुख्यत: उसके द्वारा नियुक्त अंग्रेज़ होते थे। देश के प्रशासन में भारतीय जनता की कहीं कोई भूमिका न थी। देश का प्रशासन चलाने वाली इंडियन सिविल सर्विस में भी मुख्यत: अंग्रेज़ भरे थे। भारतीय इन प्रतियोगितामूलक परीक्षाओं में बैठ सकते थे मगर उनका चुना जाना कठिन था। ये परीक्षाएँ इंग्लैंड में होती थीं और कुछेक लोग ही उनमें बैठ सकते थे।

एक और कारण था– नस्ली भेदभाव। 1857 के विद्रोह से पहले अनेक अंग्रेज़ अधिकारियों और दूसरे लोगों का भारतियों से मेलजोल चलता रहता था पर विद्रोह के बाद नस्ली श्रेष्ठता की भावना पनपी और जो कुछ भी भारतीय था वह अंग्रेज़ों को हीन और बर्बरतापूर्ण लगने लगा। यूरोपियों के लिए अलग क्लब या रेलों के डिब्बे होते थे जिनमें भारतियों का प्रवेश निषिद्ध था। जैसा कि जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है, " पूरा भारत राष्ट्र और हर एक भारतीय अपमान, दुर्दशा और हीनतापूर्ण व्यवहार के शिकार थे।" नस्ली श्रेष्ठता की भावना को 1883 में इलबर्ट विधेयक की असफलता से समझा जा सकता है। इस विधेयक का उद्देश्य था–अदालतों में आपराधिक मामलों की सुनवाई में अंग्रेज़ों और भारतियों को समानता का दर्जा देना और यूरोपियों को प्राप्त यह विशेषाधिकार समाप्त करना कि उन पर मुकद्दमा केवल किसी यूरोपीय न्यायाधीश की अदालत में ही चलाया जा सकता है। इस विधेयक के ख़िलाफ़ यूरोपियों ने एक आंदोलन छेड़ दिया और इसे वापस लेना पड़ा।

1857 के बाद ब्रिटिश सरकार ने लगातार दमन की नीति अपनाई। सरकार के अनेक कदमों के ख़िलाफ़ व्यापक आंदोलन चले। इनमें से दो कदम थे–1878 का वर्नाक्यूलर प्रेस-कानून और 1879 का हथियार-कानून। पहले कानून ने प्रेस की स्वतंत्रता पर कठोर प्रतिबंध लगाए और दूसरे कानून ने भारतियों के हथियार रखने को जुर्म ठहराया।

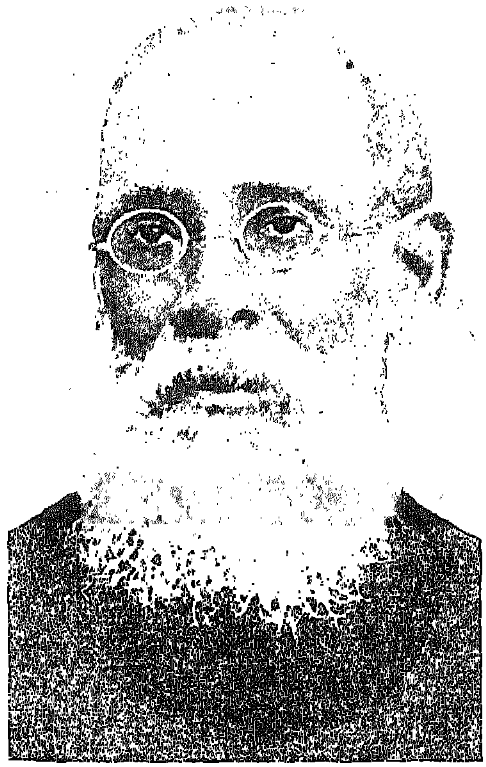
इस तरह राष्ट्रवादी आंदोलन के उदय के अनेक कारण थे। उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों में यह आंदोलन अखिल-भारतीय स्वरूप लेने लगा। छोटी-छोटी सुविधाओं की माँगों से शुरू होने वाला राष्ट्रवादी आंदोलन कुछ ही वर्षों में भारत की पूर्ण स्वाधीनता का आंदोलन बन गया।

अमरीका का स्वतंत्रता-युद्ध, फ्रांसीसी क्रांति, इटली के एकीकरण का युद्ध, और वाल्तेयर, रूसो, टामस पेन, मैज़िनी और गैरीबाल्डी (ये दोनों इटली के एकीकरण के संघर्ष के नेता थे) के विचारों ने भारतीय राष्ट्रवादियों को प्रेरणा दी। 20वीं सदी में उन पर समाजवाद और अतंर्राष्ट्रवाद के विचारों का भी प्रभाव पड़ा।

आरंभिक राजनीतिक आंदोलन और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में देश में अनेक राजनीतिक संगठनों की स्थापना हुई। बहुत पहले 1851 में ही बंगाल में ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन की स्थापना, ब्रिटिश सरकार तक भारतियों की शिकायतें पहुँचाने के लिए हुई थी। 1876 में सरेंद्रनाथ बनर्जी ने बंगाल में इंडियन एसोसिएशन की स्थापना की। दादाभाई नौरोजी ने बांबे ऐसोसिएशन की बुनियाद रखी। मद्रास नेटिव एसोसिएशन (1852 में स्थापित), पूना सार्वजनिक सभा (1870) और मद्रास महाजन सभा (1884) ऐसे ही कुछ और संगठन थे। फिर एक अखिल-भारतीय संगठन बनाने के प्रयास हुए। 1883 में सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने एक अखिल-भारतीय राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया, जिसे उसके अध्यक्ष ने एक राष्ट्रीय संसद की दिशा में पहला कदम बतलाया। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई, जिसमें एक सेवानिवृत्त सिविल अफसर, ऐलेन ऑक्टेवियन ह्यूम की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। गवर्नर-जनरल लार्ड डफ़रिन ने कांग्रेस को अपनी शुभकामनाएँ दीं। उसका विचार था कि "श्रेष्ठतम भारतीय जनमत के प्रति सचेत रहने की दृष्टि से सरकार के लिए कांग्रेस एक अच्छा मंच है। मगर जल्द ही कांग्रेस एक क्रांतिकारी संगठन बन गई, जिसने भारतीय जनता को स्वाधीनता की मंज़िल तक पहुँचाया।

बंबई में डब्ल्यू. सी. बनर्जी की अध्यक्षता में हुए कांग्रेस के पहले अधिवेशन में भारत के सभी क्षेत्रों के प्रतिनिधि शामिल हुए। अधिवेशन में शामिल लोग अलग-अलग धर्मों के थे। जिन समस्याओं पर विचार-विमर्श हुआ उनका संबंध धर्म, ज़ाति, भाषा और क्षेत्र के भेदभावों से अलग सभी भारतियों से था। इस तरह कांग्रेस जिस भारतीय राष्ट्रवाद



सुरेंद्रनाथ बनर्जी

का प्रतिनिधित्व करती थी, वह आरंभ से ही अखिल-भारतीय धर्म निरपेक्ष आन्दोलन था, जिसके दायरे में भारतीय समाज के सभी वर्ग शामिल थे। इसमें दादाभाई नौरोजी, बदरुद्दीन तैयबजी, डब्ल्यू. सी. बनर्जी, पी आनंद चार्लु, सुब्रमन्य अय्यर, बहरामजी मलाबारी और एन. जी. चंदावरकर जैसे विख्यात व्यक्ति शामिल हुए थे।

अपनी स्थापना के आरंभिक वर्षों में कांग्रेस ने नरम नीतियाँ अपनाईं। इसके प्रथम अध्यक्ष डब्ल्यू. सी. बनर्जी के अनुसार कांग्रेस का उद्देश्य " राष्ट्रीय प्रगति के लिए सक्रिय कार्यकर्ताओं को आपस में परिचित कराना'' और "नस्ल और भाषा या सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं संबंधी भेदों से परे रहकर भारत की जनता को साझे राजनीतिक उद्देश्यों के लिए एकजुट करना'' था। कांग्रेस का अधिवेशन प्रति वर्ष एक बार होता था जिसमें सरकार

के विचारार्थ प्रस्ताव पारित किए जाते थे। इनमें स्वाधीनता नहीं, बल्कि प्रतिनिधि-संस्थाओं की माँग की जाती थी। कांग्रेस की कुछ आरंभिक माँगें थीं—प्रांतीय और केंद्रीय विधायी परिषदों में चुने गए व्यक्तियों के लिए स्थान, भारत में इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षाओं का आयोजन और इसके लिए अधिकतम आयु की सीमा बढ़ाना, शिक्षा-प्रसार, भारत का औद्योगिक विकास, किसानों के कर्जों में राहत और हथियार-कानून में संशोधन।

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, महादेव गोविंद रानाडे, गोपाल कृष्ण गोखले, रमेशचंद्र दत्त और फीरोजशाह मेहता जैसे कांग्रेस के नेताओं को अपनी माँगों के उचित होने में तथा ब्रिटिश सरकार में विश्वास था। उनका विश्वास था कि जब भी ब्रिटिश सरकार को उनकी माँगों के औचित्य पर विश्वास हो जायेगा, ये माँगें मान ली जाएँगी। वे ब्रिटेन से अलगाव नहीं, बल्कि जुड़ाव चाहते थे। उदाहरण के लिए सुरेंद्रनाथ बनर्जी का कहना था, "हमारी निगाहें संबंध-विच्छेद पर नहीं बल्कि एकीकरण पर हैं। हम स्थायी रूप से उस साम्राज्य के अंग बनकर रहना चाहते हैं, जिसने शेष विश्व को स्वतंत्र संस्थाओं के नमूने पेश किए हैं।" मगर कांग्रेस के अधिवेशन में सरकार की आलोचना धीरे-धीरे बढ़ने लगी और उग्र माँगें भी रखी जाने लगीं। कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में एक वक्ता ने कहा कि "स्वशासन प्रकृति का मध्यस्थ और ईश्वर की इच्छा है। प्रत्येक राष्ट्र को अपने भविष्य का निर्माता स्वयं होना चाहिए। पर क्या हम अपना शासन स्वयं कर रहे हैं ? नहीं। क्या हम एक अप्राकृतिक अवस्था में नहीं रह रहे ? हाँ।" जब कांग्रेस में ऐसे उग्र विचार पनपने लगे तो सरकार उसकी विरोधी हो गई। सरकारी कर्मचारियों को कांग्रेस के अधिवेशनों में शामिल होने पर रोक लगा दी गई। लार्ड डफरिन ने अपमानजनक भाषा में कहा कि कांग्रेस जनता के एक बहुत ही छोटे भाग का प्रतिनिधित्व करती है, जिस पर कोई ध्यान नहीं दिया जाना चाहिए।

आरंभिक काल में कांग्रेस पर "नरमपंथियों" का प्रभुत्व था। इसकी माँगें मुख्यतः शिक्षित मध्य वर्ग और पनपते हुए भारतीय उद्योगपतियों की माँगें थीं फिर भी भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन के विकास के आरंभिक काल में इसने अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। राष्ट्रीय एकता पर जोर, भारतीय संपत्ति के दोहन की आलोचना, प्रतिनिधि-संस्थाओं और सेवाओं के भारतीकरण की माँग, हथियार-कानून जैसे दमनकारी कानूनों का विरोध और भारतीय जनता के मूलभूत तत्व के रूप में जनता की निर्धनता पर लगातार जोर—कांग्रेस की इन बातों ने राष्ट्रवादी आंदोलन को एक ठोस आधार पर खड़ा किया। आंदोलन का यह चरण लगभग 1905 तक जारी रहा।

भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन (1905-19)

ब्रिटिश शासकों ने कांग्रेस की मामूली माँगें तक नहीं मानीं। माँगों का इस प्रकार ठुकराया जाना तथा जनता की बढ़ती चेतना, इन बातों ने कांग्रेस के अंदर एक 'गरमपंथी' दल को जन्म दिया जिसने आंदोलन को और बढ़ाया। इस तरह भारत के राष्ट्रवादी आंदोलन का एक नया चरण आरंभ हुआ। नई माँगें रखी गईं और संघर्ष के नए रूप अपनाए गए, जिनमें जनता की भागीदारी पहले से अधिक थी।

गरमपंथ का उदय

बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में "गरमपंथ" नामक एक नई प्रवृत्ति का विकास हुआ। इस नई प्रवृत्ति के प्रभाव के कारण राष्ट्रवाद आंदोलन ने सरकार से केवल प्रार्थनाएँ करने की परंपरा छोड़ दी और राजनीतिक आंदोलन के नए और उग्र तरीके अपनाए। उठाई जाने वाली माँगें उग्र होती गईं। इस प्रवृत्ति के पीछे कई नए कारण थे।

दिसंबर 1898 में कर्ज़न भारत का नया वायसराय बनकर आया। अपने वायसराय-काल में उसने अत्यंत अलोकप्रिय कदम उठाए, जिनसे ब्रिटिश राज्य के प्रति विरोध तेज हुआ। उसका कहना था कि वह कांग्रेस की "कष्ट रहित मृत्यु" में अपना सहयोग देगा पर जब वह भारत से गया तब कांग्रेस और राष्ट्रवादी आंदोलन पहले से कहीं अधिक मज़बूत हो चुके थे, बल्कि आंदोलन नए रूप ले चुका था।

कर्ज़न का सबसे बदनाम कारनामा बंगाल का विभाजन था। प्रशासनिक सुविधा को इसका कारण बतलाया गया। पर नेताओं ने स्पष्ट समझा कि यह वास्तव में जनता में फूट डालने का तरीका है। योजना के अनुसार पूर्वी प्रांत एक मुस्लिम-बहुल और पश्चिमी भाग एक हिन्दू-बहुल प्रांत



दादा भाई नौरोजी

होता। विभाजन का उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम एकता को तोड़ना और इस प्रकार राष्ट्रवादी आंदोलन को कमजोर करना था। मगर इसके परिणाम सरकार की आशा के विपरीत रहे। इससे एक ऐसा उग्र आंदोलन उठ खड़ा हुआ कि अंततः विभाजन को रद्द करना ही पड़ा।

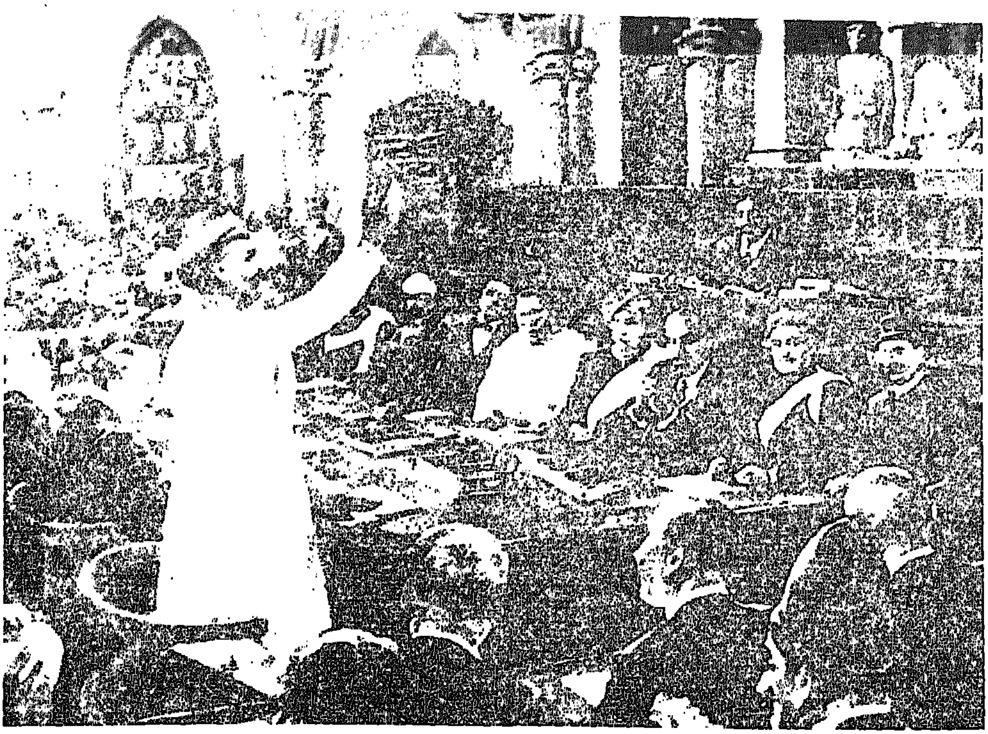
उग्र राष्ट्रवाद के विकास में अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं का भी योगदान रहा। 1904-05 में जापान के हाथों रूस की हार हुई। किसी यूरोपीय राष्ट्र पर किसी एशियाई राष्ट्र की आधुनिक काल में यह पहली विजय थी। हालाँकि जापान तब एक साम्राज्यवादी शक्ति बनता जा रहा था और रूस जापान युद्ध चीन में साम्राज्यवादी लाभ पाने के लिए लड़ा गया था, फिर भी जापान की विजय से अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ लड़ रहे भारतीय राष्ट्रवादियों को बल मिला। रूस की हार के बाद वहाँ 1905 में एक क्रांति हुई जिसके बारे में आप पढ़ चुके हैं। इस क्रांति का उद्देश्य ज़ार के निरंकुश शासन को उखाड़ फेंकना था, पर उसे कुचल दिया गया। इस क्रांति का भी भारतीय राष्ट्रवादियों के विचारों पर प्रभाव पड़ा।

कांग्रेस में गरमपंथियों का नेतृत्व बाल गंगाधर तिलक, विपिन चन्द्रपाल और लाला लाजपतराय कर रहे थे, जिन्हें अक्सर "लाल-बाल-पाल" कहा जाता है। भारतीय जनता में आत्मविश्वास और राष्ट्रीय गर्व की भावना जगाने के लिए उन्होंने देश के अतीत का गुणगान किया। तिलक 1890 से ही कांग्रेस में सक्रिय थे। 1897 में "राजद्रोही" लेखों और भाषणों के कारण उन्हें 18 महीनों की कड़ी कैद की सज़ा मिली थी। जैसा कि आप पढ़ चुके हैं, उन्होंने राष्ट्रवादी प्रचार-कार्य के लिए मराठी में एक पत्र "केसरी" की स्थापना की थी। उन्होंने राष्ट्रीय भावनाएँ जगाने के लिए गणपति और शिवाजी उत्सवों को पुनर्जीवित किया और उनका उपयोग किया। उन्होंने जनता को कर्म के लिए ललकारा जो उनके अनुसार **भगवद्गीता** का वास्तविक संदेश था। इस काल में 'गरमपंथी' दल का उद्देश्य भारतीय संस्कृति पर गर्व करना सिखलाना था। बंगाल में कालीपूजा की प्रथा चलाई गई। 'गरमपंथियों' ने पश्चिमी संस्कृति की प्रशंसा करने तथा ब्रिटिश सरकार में आस्था रखने के लिए कांग्रेस के पुराने नेताओं की आलोचना की।

राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने के तरीकों के बारे में नरमपंथियों और गरमपंथियों के बीच व्यापक मतभेद थे। इस अंतर को तिलक ने इस प्रकार सामने रखा : राजनीतिक अधिकारों के लिए लड़ना पड़ता है, नरमपंथी समझते हैं कि ये सरकार को सहमत करके प्राप्त किए जा सकते हैं. हम समझते हैं कि केवल भारी दबाव डालकर ही इन्हें प्राप्त किया जा सकता है।" गरमपंथी नेताओं ने खासकर नगरीय क्षेत्रों में जनता को संघर्ष में खींचा। संघर्ष के लिए जनता, खासकर युवकों को उभारना 'गरमपंथियों' की प्रमुख देन थी।

बहिष्कार और स्वदेशी आंदोलन

बंगाल के विभाजन से देश भर में गुस्से की लहर दौड़ गई। फिर उथल-पुथल का जो दौर शुरू हुआ उसमें बहिष्कार और स्वदेशी आंदोलनों की नींव पड़ी। 'स्वदेशी' (जिसका अर्थ है 'अपने देश का') का उद्देश्य देशी उद्योगों को प्रोत्साहन देना था। स्वदेशी के साथ-साथ ब्रिटिश माल का बहिष्कार भी किया गया। स्वदेशी और बहिष्कार विदेशी शासन के विरोध में ताकतवर हथियार साबित हुए। उन्होंने वहाँ चोट की जहाँ सबसे अधिक दर्द हो। स्वदेशी के बारे में लाला लाजपतराय ने कहा : "मैं इसे देश की मुक्ति का



1908 में अपने मुकदमे की सुनवाई के दौरान जूरी को संबोधित करते बाल गंगाधर तिलक। इस मुकदमे में उनको 6 साल की कैद की सज़ा सुनाई गई थी

साधन मानता हूँ। स्वदेशी आंदोलन हममें आत्मसम्मान, आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास तथा पुरुषार्थ की भावना जगाएगा। स्वदेशी आंदोलन हमें सिखलाएगा कि हम अपनी पूँजी, अपने संसाधनों, अपने श्रम, अपनी ऊर्जा और अपनी प्रतिभा का उपयोग किस प्रकार करें कि धर्म, रंग या जाति का भेदभाव किए बिना सभी भारतियों का अधिकतम कल्याण हो। हमारी राय में स्वदेशी को संयुक्त भारत का साझा धर्म बन जाना चाहिए।" बहिष्कार आंदोलन के बारे में उनका कहना था "बहिष्कार का अर्थ यह है.... प्रमुख वस्तु है— सरकार की प्रतिष्ठा और बहिष्कार आंदोलन उस प्रतिष्ठा की जड़ों पर ही चोट करता है। वह भ्रामक वस्तु, जिसे वे प्रतिष्ठा कहते हैं, स्वयं सत्ता से अधिक शक्तिशाली है और हम बहिष्कार के द्वारा इस पर चोट करना चाहते हैं..... हम सरकारी भवनों से अपना मुँह मोड़ना और उसे जनता के झोपड़ों की ओर घुमाना चाहते हैं।"

जब बंग-भंग विरोधी राष्ट्रव्यापी आंदोलन अपने चरम बिंदु पर था, तब 1906 में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ। उभरते हुए विरोध से साहस पाकर दादाभाई ने कांग्रेस का वह नया कार्यक्रम सामने रखा जिसकी पैरवी 'गरमपंथी' करते रहे थे। इस कार्यक्रम के प्रति दादाभाई के समर्थन के कारण इस पर व्यापक सहमति हुई। पहली बार स्वराज को कांग्रेस का उद्देश्य घोषित किया गया। स्वराज या स्वशासन की परिभाषा उस शासन-प्रणाली के रूप में की गई जो "स्वशासी ब्रिटिश उपनिवेशों में है।" प्रतिरोध के तरीकों के रूप में स्वदेशी और बहिष्कार आंदोलनों का समर्थन किया गया। राष्ट्रीय शिक्षा को प्रोत्साहन देना कांग्रेस का एक उद्देश्य बतलाया गया।

स्वदेशी और बहिष्कार आंदोलन देश के कई भागों में

फैल गए। विदेशी माल बेचने वाली दुकानों पर धरने होने लगे। इन आंदोलनों में छात्रों की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। पूरे देश में सभाएँ होने लगीं और संगठन बनने लगे। सरकार ने दमन का सहारा लिया। सभाओं पर प्रतिबंध लगा दिया गया। बंकिमचंद्र चटर्जी द्वारा रचित राष्ट्र गीत "वंदे-मातरम्" का गाना भी जुर्म हो गया। स्कूलों की मान्यता छिन गई और सहायता बंद हो गई। जुलूसों पर लाठीचार्ज होने लगे, जनता को आतंकित करने के लिए तरह-तरह के उपाय अपनाए गए मगर दमन के ये सारे उपाय नाकाम रहे। जनता का उभार इतना ताकतवर था कि कई लोगों को ब्रिटिश शासन का अंत करीब दिखाई देने लगा। यही समय था जब तिलक ने लिखा "दमन बस दमन है। अगर यह कानूनी है तो हम शांतिपूर्ण रहकर इसका विरोध करेंगे और अगर यह ग़ैर-कानूनी है तो इससे ग़ैर-कानूनी ढंग से ही निपटा जाना चाहिए।" उन्होंने कांग्रेस को यह नारा भी दिया : "स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर ही रहूँगा।" यह आंदोलन 1907 में भी जारी रहा। राष्ट्रवादी समाचार-पत्रों पर प्रतिबंध लगा दिए गए तथा उनके संपादकों को सज़ाएँ दी गईं। अनेक नेता जेलों में डाल दिए गए।

सूरत में 1907 में कांग्रेस का 23वाँ, अधिवेशन हुआ। यहाँ 'नरमपंथी' और 'गरमपंथी' आपस में टकरा गए। नरमपंथी पिछले वर्ष कलकत्ता अधिवेशन में पारित स्वदेशी और बहिष्कार संबंधी प्रस्तावों में संशोधन करना चाहते थे। वे कांग्रेस के संविधान में यह धारा भी जोड़ना चाहते थे कि स्वशासन सांविधानिक विधियों के द्वारा तथा वर्तमान प्रशासनिक प्रणाली में सुधार लाकर ही प्राप्त किया जाएगा। वे आंदोलन को तेज करने के विरोधी थे। तिलक ने कांग्रेस के नेतृत्व पर कब्ज़ा करने की कोशिश की। इसके बाद अफ़रा तफ़री मच गई और अधिवेशन को बीच में ही समाप्त करना पड़ा। बाद में दोनों दलों ने अपनी-अपनी अलग सभाएँ कीं। कांग्रेस का नेतृत्व 'नरमपंथियों' के हाथों में ही रहा। 'गरमपंथी' 1916 में फिर से विलय होने तक अलग रहकर सक्रिय रहे।

इस बीच सरकारी दमन का चक्का चलता रहा। यह दमन बंगाल, महाराष्ट्र, पंजाब और तमिलनाडु में ख़ासकर तेज़ था। 1906 में राजद्रोह सभा कानून बनाया गया। इसका उद्देश्य ऐसी सभाओं पर प्रतिबंध लगाना था जो "सार्वजनिक शांति में बाधा पहुँचा सकने वाली" हों। 1910 में भारतीय प्रेस अधिनियम बनाया गया। इसमें अधिकारियों को व्यापक शक्ति इसके लिए दी गई कि "उनकी राय में जो भी पत्र विद्रोह भड़का सकने वाली सामग्री छाप रहा हो", उसके संपादक को सज़ाएँ दे सकें। सौ साल पुराने एक कानून के अंतर्गत सरकार बिना मुकद्दमा चलाए जलावतन करने लगी। अनेक पत्र बंद कर दिए गए। अनेक नेता कैद या निर्वासित कर दिए गए। **केसरी** में प्रकाशित दो लेखों के कारण तिलक को छः वर्ष कैद की सज़ा सुनाकर बर्मा की मांडले जेल में बंद कर दिया गया। उनकी गिरफ़्तारी का व्यापक विरोध हुआ। इसके कारण बंबई के सूती कपड़ा मज़दूरों की हड़ताल हुई जो भारत की आरंभिक हड़तालों में से एक थी।

इस तरह बीसवीं सदी के पहले दशक में राष्ट्रवादी आंदोलन ने एक नए चरण में प्रवेश किया। अधिकाधिक लोग इसमें शामिल होते गए। अब वे सरकार से प्रार्थना करने पर ही संतोष करने वाले नहीं थे। कुछ स्थानों पर आंदोलन से धर्म के जुड़ जाने के कारण सांप्रदायिक विचारों को बल मिला और इसके हानिकारक परिणाम हुए।

मार्ले-मिंटो सुधार

सरकार ने 1909 में नरमपंथी राष्ट्रवादियों को संतुष्ट करने के लिए मार्ले-मिंटो सुधारों की घोषणा की। 1861 में विधायी परिषद् में 6 ग़ैर सरकारी सदस्यों के शामिल होने की व्यवस्था की गई थी। इस परिषद् को कोई शक्ति प्राप्त न थी और वह उन्हीं विषयों पर विचार कर सकती थी जो उसके सुपुर्द किए जाते थे। जिन भारतीय सदस्यों को नामज़द किया जाता था, वे राजाओं और बड़े ज़मीदारों के परिवारों के होते थे। 1892 के इंडियन कौंसिल्स एक्ट में केंद्रीय और प्रांतीय विधायी परिषदों में सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई थी और कुछ भारतीय सदस्यों को परोक्ष रूप से निर्वाचित होने की व्यवस्था थी। बंग-भंग के विरोध में होने वाले आंदोलन के परिणामस्वरूप 1909 के मार्ले-मिंटो सुधारों ने इसमें और परिवर्तन किए। हमेशा

की तरह इस बार के परिवर्तन भी बहुत मामूली थे और बहुत देर से किए गए थे। केंद्रीय और प्रांतीय विधायी परिषदों के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई तथा कुछ और निर्वाचित सदस्यों की व्यवस्था भी की गई। परंतु ये निर्वाचित सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित नहीं होते थे, बल्कि ज़मीदारों और चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स द्वारा निर्वाचित किए जाते थे। मुसलमानों के लिए अलग निर्वाचन मंडल (एलेक्टोरेट) बनाए गए। अलग चुनाव मंडलों की यह व्यवस्था "बाँटो और राज करो" की साम्राज्यवादी नीति के तहत एक सोची-समझी हुई चाल थी। इस तरह भारत के राजनीतिक जीवन में सांप्रदायिकता के बीज बोए गए।

इन परिषदों को कोई वास्तविक शक्ति प्राप्त न थी। वे जनता की चुनी हुई संस्थाएँ भी नहीं थीं। 'नरमपंथी' नेताओं ने सुधारों को प्रगतिवादी बतलाकर उनका स्वागत किया मगर "धर्म के आधार पर अलग-अलग निर्वाचन मंडलों के निर्माण" पर अपनी कड़ी प्रतिक्रिया भी व्यक्त की। 'गरमपंथियों' ने इन सुधारों की निंदा की। अनेक मुस्लिम नेताओं ने भी अलग निर्वाचन मंडल बनाने की निंदा की। 'नरमपंथी' नेताओं ने भी रफ्ता-रफ्ता सुधारों की अपर्याप्तता, बल्कि उनकी हानिकारक प्रकृति को भी पहचाना। 1909 के कांग्रेस अधिवेशन में एक प्रतिनिधि ने कहा : "हम इसका विरोध करते हैं क्योंकि इसका अर्थ पूरे भारत का विभाजन है जो बंगाल के विभाजन से कहीं बहुत गंभीर मामला है।"

ये सुधार भारतियों को स्वशासन की दिशा में आगे ले जाने के लिए नहीं थे। भारत मंत्री मार्ले ने भारतियों को स्वशासन देने की संभावना से इन्कार कर दिया। यही वह शख़्स था, जिसने कर्ज़न के बाद वायसराय बनने वाले मिंटो के साथ मिलकर इन सुधारों की रूपरेखा तैयार की थी। उसने कहा कि अगर इन सुधारों में "भारत में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से संसदीय प्रणाली की बुनियाद पड़ती है तो कम-से-कम मेरा इनसे कोई वास्ता नहीं होगा।"

क्रांतिकारी आंदोलन

खुले राजनीतिक आंदोलनों के अलावा 20वीं सदी के पहले दशक में देश के विभिन्न भागों में अनेक क्रांतिकारी संगठन भी बने। मुख्यतः बंगाल, महाराष्ट्र, तमिलनाडु और पंजाब में सक्रिय इन आरंभिक क्रांतिकारियों की संवैधानिक आंदोलनों में कोई आस्था नहीं थी। उनका विश्वास था कि ब्रिटिश अधिकारियों को आतंकित करके वे पूरे सरकारी तंत्र का मनोबल तोड़ सकेंगे और इस तरह स्वतंत्रता प्राप्त कर सकेंगे। जब सरकार ने सारे खुले राजनीतिक आंदोलन को कुचल दिया और अनेकों राष्ट्रवादी नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया तब क्रान्तिकारी संगठनों की गतिविधियाँ और भी बढ़ गईं।

ये क्रांतिकारी संगठन बदनाम सरकारी अधिकारियों, मजिस्ट्रेटों और वादामाफ़ गवाहों की हत्याएँ करते थे, अपनी गतिविधियाँ चलाने के लिए डकैतियाँ डालकर धन इकट्ठा करते थे और हथियार लूटते थे। उन्होंने दो वायसरायों, मिंटो और हार्डिंग, की हत्या की कोशिशें कीं। ऐसे आंदोलन भारत के बाहर यूरोप और अमरीका में भी चले। इनमें सबसे प्रमुख संगठन ग़दर पार्टी थी। ग़दर का अर्थ विद्रोह होता है। इन संगठनों ने भारत में सक्रिय क्रांतिकारियों के लिए धन जमा किया, भारत में चोरी-छिपे हथियार भेजने की कोशिशें कीं और भारत तथा बर्मा और सिंगापुर में तैनात भारतीय सैनिकों में विद्रोह भी भड़काए। हालाँकि व्यक्तिगत आतंकवाद एक विशाल और शक्तिशाली साम्राज्य का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता था, तो भी इन क्रान्तिकारियों की वीरता और आत्म बलिदान ने जनता को प्रेरणा दी और इस तरह जनता में राष्ट्रवादी भावनाओं का विकास किया।

मुस्लिम लीग की स्थापना

ब्रिटिश सरकार ने 1857 के विद्रोह के बाद "बाँटो और राज करो" की नीति अपनानी आरंभ कर दी। एलफिंस्टन ने खुलकर कहा था : "पुराने रोम साम्राज्य की नीति 'बाँटो और राज करो' थी और यही हमारी नीति भी होनी चाहिए"। आरंभ में मुसलमानों के ख़िलाफ भेदभाव किए गए। उन्हें सेना और सरकारी नौकरियों से दूर रखा गया मगर जब राष्ट्रवादी आंदोलन का विकास होने लगा तो सरकार की नीति बदल गई। सरकार कांग्रेस को हिंदू आंदोलन कहकर ऊँचे वर्गों के मुसलमानों को इसके लिए प्रोत्साहित करने लगी कि वे कांग्रेस के मुकाबले अपने अलग

संगठन बनाएँ। जब बंगाल के विभाजन के विरोध में एकजुट आंदोलन उठा तो कर्ज़न ने खुद पूर्वी बंगाल का दौरा किया और मुसलमानों को यह समझाया कि पूर्वी बंगाल में उनका बहुमत होने से उन्हें क्या-क्या लाभ होंगे। मगर फिर भी कांग्रेस के 1906 के अधिवेशन में मुस्लिम प्रतिनिधि बड़ी संख्या में शामिल हुए। इनमें मुहम्मद अली जिन्ना भी थे, जिन्होंने बाद में अलग पाकिस्तान का आंदोलन चलाया। उन्होंने सीटों के आरक्षण के विरोध में एक संशोधन भी पेश किया जो स्वीकृत हो गया। यह संशोधन पेश करते हुए उन्होंने कहा था : "भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना का आधार यह है कि हम सभी समान हैं, और किसी भी वर्ग या समुदाय के लिए कोई भी आरक्षण नहीं होना चाहिए। मेरा उद्देश्य यही है कि आरक्षण समाप्त होने चाहिए।"

हालाँकि एकजुट राष्ट्रीय आंदोलन में अनेक मुसलमानों ने भाग लिया, फिर भी मुसलमानों पर सांप्रदायिक तत्वों का प्रभाव बढ़ने लगा। नए उभरते हुए मध्य तथा उच्च वर्ग के आर्थिक हितों को पूरा करने के लिए अनेक नेता अभी भी सरकार से सुविधाएँ माँग रहे थे। इन नेताओं का विश्वास था कि ब्रिटिश सरकार का विरोध करने पर मुस्लिम मध्य वर्ग और उच्च वर्ग के आर्थिक हितों को नुकसान होगा। इसका एक और कारण वह भय था जो मुसलमानों के मन में कांग्रेस के कुछ 'गरमपंथी' नेताओं के हिंदू पुनरुत्थान के कारण पैदा हुआ था।

सरकार ने उच्चवर्गीय मुसलमानों और इस प्रकार सांप्रदायिक राजनीति को जो बढ़ावा दिया उसका पता मुस्लिम लीग की स्थापना से पहले हुई घटनाओं से चलता है। आगा खान के नेतृत्व में एक मुस्लिम शिष्टमंडल अक्तूबर 1906 में शिमला में वायसराय मिंटो से मिला। एक मुस्लिम फ़िरके के धार्मिक नेता आग़ा ख़ान बेहद धनी व्यक्ति थे। वे अधिकतर यूरोप में रहकर विलासिता का जीवन बिताते थे। एक और महत्त्वपूर्ण नेता ढाका के नवाब सलीमुल्लाह थे। वायसराय ने इस शिष्टमंडल का उत्साह बढ़ाया और तीन माह के अंदर 30 दिसंबर, 1906 को मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। लीग के ये उद्देश्य थे :

(अ) भारत के मुसलमानों में ब्रिटिश सरकार के प्रति वफ़ादारी की भावना जगाना और सरकार के कदमों के बारे में उनके मन में अगर कोई ग़लतफ़हमी पैदा हो तो उसे दूर करना।



मौलाना अबुल कलाम आज़ाद

(ब) भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक अधिकारों और हितों की रक्षा की घोषणा करना तथा उनकी आशाओं और आकांक्षाओं को आदर के साथ सरकार की सेवा में पेश करना।

(स) लीग के दूसरे उद्देश्यों पर अडिग रहते हुए दूसरे समुदायों के प्रति किसी प्रकार के विरोध की भावना को रोकना।

लेकिन लीग द्वारा "वफ़ादारी की भावना जगाने" के बावजूद अधिकाधिक मुसलमान राष्ट्रवादी आंदोलन में शामिल होते रहे। 1912 में मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने अख़बार **अल-हिलाल** की और मौलाना मुहम्मद अली ने अंग्रेज़ी में **कामरेड** और उर्दू में **हमदर्द** की स्थापना की। विख्यात राष्ट्रवादियों द्वारा स्थापित इन पत्रों ने जनता के हितों की पैरवी जारी रखी और जनता में राष्ट्रीय भावनाएँ जगाईं।

1913 में मुस्लिम लीग ने भी भारत के लिए स्वशासन प्राप्ति के उद्देश्य को अपनाया। 1913 में जिन्ना मुस्लिम लीग में शामिल हुए। उन्हें ऐसा करने को कहा गया था ताकि "लीग की नीति को कांग्रेस के प्रगतिशील और राष्ट्रीय उद्देश्यों के अनुरूप बनाया जा सके।" विश्वयुद्ध जब छिड़ा तो उसके कारण मुस्लिम जनता और भी बड़ी संख्या में राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल हुई।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान राष्ट्रवादी आंदोलन

जब प्रथम विश्वयुद्ध हुआ तो ब्रिटिश सरकार ने भारत के भी उसमें शामिल होने की घोषणा कर दी। युद्ध के लिए भारतीय जनता और भारतीय संसाधनों का उपयोग किया जाने लगा। भारतीय सेना की संख्या बढ़ाकर डेढ़ लाख कर दी गई और भारतियों को ज़बरदस्ती सेना में भरती किया गया। युद्ध के ख़र्च उठाने के लिए ब्रिटिश सरकार ने भारत के धन से करोड़ों पौंड का इस्तेमाल किया। भारतीय, लड़ाई के लिए दूर-दराज़ के देशों में भेजे गए।

युद्ध के दौरान मुसलमान बड़ी संख्या में ब्रिटिश-विरोधी संघर्ष में शामिल हुए। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ख़लीफ़ा (सर्वोच्च इस्लामी धार्मिक नेता) के तुर्क साम्राज्य का विरोधी था। ख़िलाफ़त की रक्षा का प्रश्न अनेक देशों के मुसलमानों के सामने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न था। अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ तुर्की की रक्षा के आंदोलन में भारत के मुसलमान भी शामिल हो गए। युद्ध के काल में किसानों का असंतोष भी बढ़ा। इस काल में चले किसान आंदोलनों ने एक जन-आंदोलन की बुनियाद रखने में मदद पहुँचाई।

युद्ध के काल में राष्ट्रीय आंदोलन और भी ताक़तवर हुआ। 1914 में तिलक जेल से बाहर आए और उन्होंने 1916 में होम रूल लीग की स्थापना की। कुछ महीनों बाद एक और होम रूल लीग की स्थापना श्रीमती ऐनी बेसेंट ने की। 1916 में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में 'नरमपंथी' और 'गरमपंथी' फिर से मिल गए। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात थी—कांग्रेस और लीग की एकता। यह भी 1916 में लखनऊ में स्थापित हुई। इस समझौते के अनुसार कांग्रेस और लीग मिलकर ये माँगें करने पर सहमत हुए: (अ) विधायी परिषदों में अधिकांश सदस्य निर्वाचित होने चाहिए, (ब) इन विधायी परिषदों को पहले से और अधिक शक्ति दी जाए, और (स) वायसराय की कार्यकारिणी में कम-से-कम आधे सदस्य भारतीय हों। कांग्रेस और लीग का यह संयुक्त कार्यक्रम जिसे लखनऊ समझौता कहा जाता है, एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि था।

इस बीच होम रूल का अभियान तेज़ हो रहा था। मोतीलाल नेहरू और चितरंजन दास जैसे अनेक नरमपंथी नेताओं ने भी होम रूल का समर्थन किया। इसके बाद दमन का चक्र आरंभ हो गया। **अल-हिलाल, कामरेड** और **हमदर्द** जैसे पत्रों के प्रकाशन पर प्रतिबंध लग गया। ऐनी बेसेंट को नज़रबंद कर दिया गया और उनका पत्र **न्यू इंडिया** ज़ब्त कर लिया गया। जनता में सरकारी दमन चक्र के विरुद्ध रोष बढ़ा। अत्याचार की निन्दा करते हुए चितरंजन दास ने कहा : "मेरे विचार में मानवता के देवता को केवल एक ही बार सलीब पर नहीं लटकाया गया। निरंकुश शासकों और अत्याचारियों द्वारा मानवता के ख़िलाफ़ किया गया हर काम उस देवता के पवित्र शरीर में एक और कील ठोंकने के समान है।"

युद्ध आरंभ होने के बाद ब्रिटेन के भारत मंत्री ने बयान दिया था कि "ब्रिटिश नीति का उद्देश्य भारत में एक उत्तरदायी शासन की धीरे-धीरे स्थापना करना है।" इस बयान के कारण गाँधीजी समेत अनेक राष्ट्रीय नेताओं को आशा हो चली कि युद्ध के बाद भारत को स्वशासन मिल जायेगा। इस कारण उन्होंने सरकार के युद्ध प्रयासों में सहयोग दिया। बाद में गाँधीजी ने कहा : "इन सभी सेवा प्रयासों के पीछे मेरा यह विश्वास काम कर रहा था कि इस तरह की सेवाओं के द्वारा देशवासियों के लिए पूर्ण समानता का दर्जा पा सकना संभव है।" पर युद्ध के बाद जिन सुधारों की घोषणा की गई वे निराशाजनक थे। इससे जो कुंठा पैदा हुई उसने राष्ट्रवादी भावनाओं में अभूतपूर्व वृद्धि की।

राष्ट्रवादी आंदोलन जन-आंदोलन बना (1919-1935)

गाँधीजी का नेतृत्व

राष्ट्रवादी आंदोलन युद्ध के बाद एक व्यापक साम्राज्य-विरोधी जन-आंदोलन में बदल गया। इस परिवर्तन के

अनेक कारण थे। यही समय था जब मोहनदास करमचंद गाँधी सामने आए और राष्ट्रीय आंदोलन के निर्विवाद नेता बने। इंग्लैंड में कानून की शिक्षा पाने के बाद वे वकालत करने दक्षिण अफ्रीका चले गए थे। दक्षिणी अफ्रीकी सरकार की भेदभाव भरी और नस्लवादी नीतियों के ख़िलाफ़ संघर्ष में उन्होंने अपने कर्म-दर्शन का विकास किया। यह कर्म-दर्शन अहिंसक प्रतिरोध पर आधारित था। इसे जब भारतीय परिस्थितियों में लागू किया गया तो लाखों लोग स्वराज के आंदोलन में शामिल हुए। उनके नेतृत्व में अनेक शक्तिशाली जन-आंदोलन चले। कानूनों का उल्लंघन, शांतिपूर्ण प्रदर्शन, अदालतों का बहिष्कार, काम रोक देना, शिक्षा संस्थाओं का बहिष्कार, शराब और विदेशी माल बेचने वाली दुकानों पर धरना, कर चुकाने से इन्कार तथा अत्यावश्यक उद्योग-व्यापारों को बंद करना — ये ही इन आंदोलनों के मूल तत्व थे। ये विधियाँ अहिंसक तो थीं पर कुछ कम क्रांतिकारी न थीं और इनके कारण समाज के सभी वर्गों के लाखों लोग प्रभावित हुए, और उनके अंदर वीरता और आत्मविश्वास की भावना जागी। लाखों लोग निर्भय होकर सरकार का दमन झेलने लगे, जेल जाने लगे तथा लाठी-गोली का सामना करने लगे। गाँधीजी संन्यासियों जैसा सादा जीवन बिताते थे तथा जनता से उसी भाषा में बात करते थे जिसे वह समझती थी। भारत की जनता उनको महात्मा गाँधी कहने लगी।

सामाजिक सुधार को गाँधीजी ने राष्ट्रवादी आंदोलन का एक अभिन्न अंग बना दिया। समाजसुधार के क्षेत्र में उनका बड़ा योगदान छूआछूत की उस अमानवीय प्रथा के विरोध में अभियान चलाना था जिसने लाखों भारतियों को अत्यंत निम्न स्थिति में पहुँचा दिया था। उनका दूसरा योगदान कुटीर उद्योगों के क्षेत्र में था। चरखे को उन्होंने ग्रामीण जनता की मुक्ति का साधन बतलाया और चरखे को बढ़ावा देना कांग्रेस के कार्यक्रम का एक अंग बन गया। लोगों में राष्ट्रवाद की भावना भरने के अलावा इसने लाखों लोगों को रोज़गार उपलब्ध कराया और भारी संख्या में ऐसे लोग पैदा किए जो संघर्ष में कूदने और जेल जाने को तैयार थे। चरखे का महत्त्व इतना बढ़ गया कि वह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के झंडे में भी आ गया।

गाँधीजी ने हिंदू-मुसलमान एकता के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया। वे सांप्रदायिकता को राष्ट्र-विरोधी और अमानवीय समझते थे। उनके नेतृत्व में राष्ट्रीय आंदोलन की एकता मज़बूत हुई और स्वतंत्रता के लिए भारत की जनता उठ खड़ी हुई।

युद्ध के परिणाम और दमन

राष्ट्रवाद को जन-आंदोलन बनने में गाँधीजी के नेतृत्व के अलावा और भी कई कारण थे। भारत पर युद्ध का जो ख़र्च लादा गया उसने जनता की दशा और बिगाड़ दी। इंफ्लुएंजा की महामारी ने अनेक लोगों की जानें ले लीं। युद्ध के बाद अनेक देशों में राष्ट्रवाद का उभार हुआ। तीन निरंकुश शासन — जर्मनी में होहनज़ालर्न, आस्ट्रिया-हंगरी में हेब्सबर्ग और रूस में रोमानोव — नष्ट कर दिए गए। इनके पतन से विश्व की राजनीतिक परिस्थितियों पर एक अच्छा प्रभाव पड़ा। रूसी क्रांति ने भारत के राष्ट्रवादी नेताओं को बहुत अधिक प्रभावित किया। सोवियत संघ की सरकार ने गुलाम देशों की पूर्ण स्वाधीनता के अधिकार को मान्यता दी और ज़ार की सरकार ने जो भी साम्राज्यवादी कब्ज़े किए थे, उन्हें छोड़ दिया। इन सभी घटनाओं ने भारतीय जनता की चेतना को प्रभावित किया और उसे और भी उत्साह के साथ राष्ट्रीय आंदोलन में कूदने के लिए प्रेरित किया।

1919 में एक भारत सरकार अधिनियम बनाया गया जो मांटेगू-चेम्सफोर्ड सुधारों पर आधारित था। इन सुधारों में केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों के अधिकार-क्षेत्र स्पष्ट रूप से बाँटे गए थे। केंद्रीय धारा-सभा में अब दो सदनों की व्यवस्था हुई और इसमें अधिकांश सदस्य अब निर्वाचन के द्वारा आने वाले थे पर वोट देने का अधिकार कुछ लोगों तक ही सीमित रहा। धारा-सभा को कोई वास्तविक अधिकार भी प्राप्त न थे। प्रांतों में द्वैध शासन व्यवस्था (डयार्की) आरंभ की गई। विधायी परिषदों में निर्वाचित प्रतिनिधियों का बहुमत था। वोट का अधिकार संपत्ति के आधार पर दिया गया। संप्रदायों के अनुसार चुनाव मंडलों की व्यवस्था जारी रही। प्रांतों में ऐसे अनेक विषय थे जो विधायी परिषदों के अधिकार-क्षेत्र में आते थे, मगर गवर्नर को हस्तक्षेप के बहुत व्यापक अधिकार प्राप्त थे और



दिसंबर 1919 में अमृतसर में होने वाली अखिल भारतीय कांग्रेस की बैठक में भाग लेने आए सदस्य कुर्सी पर बैठे हुए दाएँ से बाएँ: मदन मोहन मालवीय, एनी बेसेण्ट, स्वामी श्रद्धानंद, मोती लाल नेहरू (अध्यक्ष), बाल गंगाधर तिलक तथा अन्य; जमीन पर बैठे हुए बाएँ से दाएँ जवाहर लाल नेहरू, एस. सत्यमूर्ति तथा अन्य

धारा-सभाएँ इस कारण व्यवहार में शक्तिहीन बनकर रह गईं। ये सुधार स्वराज्य की माँग से बहुत दूर थे। कांग्रेस और लीग, दोनों ने इनकी निंदा की। जनता का गुस्सा और भड़का और इन सुधारों की निंदा की गई और इन्हें असंतोषजनक कहा गया।

युद्ध में तुर्की की हार हुई। विजयी देशों ने तुर्की के साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर डाला। इससे मुस्लिम जनता भड़क उठी। ब्रिटिश सरकार के ख़िलाफ़ व्यापक असंतोष फैला। ब्रिटिश सरकार ने दमनचक्र का सहारा लिया। 1919 में विधायी परिषद् के सभी भारतीय सदस्यों के विरोध के बावजूद रौलट अधिनियम बना दिया गया इससे सरकार को यह अधिकार प्राप्त हो गया क़ि वह बिना मुकदमा चलाए किसी को भी जेल में डाल सकती थी। परिषद् से तीन सदस्यों मदन मोहन मालवीय, मुहम्मद अली जिन्ना और मज़हरुल हक ने विरोध में इस्तीफा दे दिया। रौलट अधिनियम के कारण जन-असंतोष फैला जिसकी परिणति जलियाँवाला बाग के हत्याकांड में हुई। मगर दमन के इन सभी उपायों ने राष्ट्रवाद की आग में केवल घी डालने का काम किया।

जलियाँवाला हत्याकांड

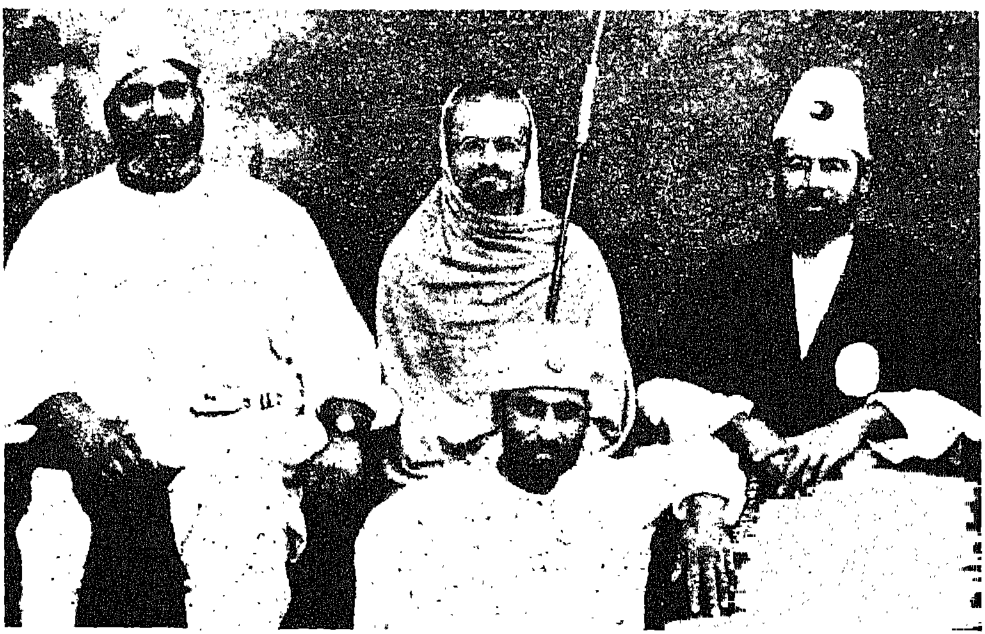
रौलट अधिनियम को, मार्च 1919 में लागू किया गया। विरोध में पूरे देश में आवाज उठी। 6 अप्रैल को अनेक जगहों पर हड़तालों, काम बंदी और प्रदर्शनों के आयोजन किए गए। विरोध आंदोलन पंजाब में खासतौर पर मज़बूत था। सरकार ने अनेक जगहों पर लाठी-गोली चलवाई। 10 अप्रैल को कांग्रेस के दो प्रभावशाली नेता – डा.सत्यपाल और डा.

सैफुद्दीन किचलू – गिरफ्तार किए गए और किसी अज्ञात स्थान पर ले जाए गए। इन गिरफ्तारियों के विरोध में अमृतसर के जलियाँवाला बाग में 13 अप्रैल को एक विरोध सभा हुई। यह एक छोटा-सा बाग है जिसके चारों तरफ मकान हैं। जनरल डायर अपने सैनिकों को साथ लेकर बाग में दाखिल हुआ और उसने बाग का जो एकमात्र निकास-द्वार था उसे घेर लिया। फिर बिना कोई चेतावनी दिए उसने गोली चलाने के आदेश दिए। सभा शांति के साथ चल रही थी और कोई भी उकसावे वाली बात नहीं थी। सभा में स्त्रियाँ, बच्चे और बूढ़े भी थे। गोलीबारी कोई दस मिनट तक चलती रही और लगभग 1600 राउंड गोलियाँ चलाई गईं। चूँकि निकासी का एक ही तंग रास्ता था और उसे भी बंद कर दिया गया था, इसलिए कोई भी भाग नहीं सका। कुछ समय बाद डायर अपने सैनिकों को लेकर चला गया। बाग में गैर-सरकारी अंदाजे के अनुसार लगभग एक हजार लोग मुर्दा और कोई 2000 घायल होकर बेसहारा पड़े थे। इस दानवीय कार्य ने पूरे देश में गुस्से की बेमिसाल लहर पैदा की। डायर की इस " बेमिसाल पशुता" और " जानबूझकर किए नरसंहार" से अनेक अंग्रेज़ों तक की आत्मा काँप उठी।

इस नरसंहार के फौरन बाद पूरे पंजाब में मार्शल ला लगाकर एक आतंक राज कायम कर दिया गया। मगर यह आतंक भी आंदोलन को दबा नहीं सका। डायर ने जिस "नैतिक भय" के पैदा होने की आशा की थी, वह पैदा न हो सका। इसके फौरन बाद ख़िलाफ़त और असहयोग आंदोलन उठ खड़े हुए।

ख़िलाफ़त और असहयोग आंदोलन

प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त होने के बाद तुर्की के साथ जो अन्यायपूर्ण व्यवहार किया गया था, उसके विरोध में अली भाइयों (मुहम्मद अली और शौकत अली) और दूसरे लोगों ने ख़िलाफ़त आंदोलन को आरंभ किया। यह वास्तव में



कुर्सी पर बैठे हुए दाँए से बाएँ: शौकत अली, भारती कृष्ण तीरथ जी (शारदा पीठ के शंकराचार्य), मोहम्मद अली, जमीन पर बैठे हुए डा. सैफुद्दीन किचलू। 1921 में कराची में इन पर मुकदमा चलाया गया और अली बंधुओं तथा डा. किचलू को दो साल की कैद की सज़ा सुनाई गई

भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन का एक अंग बन गया। ख़िलाफ़त आंदोलन में कांग्रेस के नेता भी शामिल हुए और इसे पूरे देश में फैलाने में उन्होंने सहायता दी।

कांग्रेस ने 1920 में गाँधीजी के नेतृत्व में अहिंसक असहयोग का नया कार्यक्रम अपनाया। पंजाब और तुर्की के साथ हुए अन्यायों का प्रतिकार और स्वराज की प्राप्ति–ये असहयोग आंदोलन के उद्‌देश्य थे। इस आंदोलन को कई चरणों में चलाया जाना था। आरंभिक चरण में सरकार द्वारा दी गई उपाधियों को वापस लौटाया जाना था, इसके बाद विधानमंडलों, अदालतों और शिक्षा-संस्थानों का बहिष्कार करने तथा करों की अदायगी न करने का अभियान चलाया जाना था।

तय किया गया कि असहयोग आंदोलन को चलाने के लिए डेढ़ लाख स्वयंसेवकों का एक दस्ता तैयार किया जाएगा।

असहयोग आंदोलन को अपार सफलता मिली। विधानमंडलों के चुनावों में लगभग दो-तिहाई मतदाताओं ने मतदान नहीं किया। शिक्षा-संस्थाएँ खाली हो गईं। राष्ट्रीय शिक्षा का नया कार्यक्रम आरंभ किया गया। जामिया मिलिया और काशी विद्यापीठ जैसी संस्थाएँ इसी दौर में स्थापित हुईं। अनेक भारतियों ने सरकारी नौकरियाँ छोड़ दीं। विदेशी कपड़ों की होलियाँ जलाई गईं। पूरे देश में हड़तालें हुईं। मालाबार में मोपला विद्रोह छिड़ गया। हिंदू और मुसलमान एक होकर इस आंदोलन में शामिल हुए और पूरे देश में भाई-चारे के उदाहरण देखे गए। सिखों ने गुरुद्वारों से सरकार-समर्थक और भ्रष्ट महंतों का कब्जा खत्म कराने के लिए आंदोलन छेड़ा। हजारों लोगों ने स्वयंसेवकों में नाम लिखाया। आंदोलन के दौरान प्रिंस ऑफ वेल्स भारत आए। जब वह 17 नवम्बर, 1921को भारत पहुँचे तो उनका "स्वागत" आम हड़तालों और प्रदर्शनों द्वारा किया गया। अनेक जगहों पर पुलिस ने प्रदर्शनकारियों पर गोलियाँ चलाईं। दमन जारी रहा और साल के खत्म होने तक गाँधीजी को छोड़कर सभी बड़े नेता जेल में बंद किए जा चुके थे। 1922 के आरंभ में लगभग 30,000 लोग सीखचों के पीछे थे।

असहयोग आंदोलन और ब्रिटिश सरकार का दमन, दोनों जब चरम सीमा पर थे, उसी समय दिसंबर 1921 में, कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन अहमदाबाद में हुआ। इसके अध्यक्ष हकीम अजमल खाँ थे। कांग्रेस ने आंदोलन को तब तक जारी रखने का फैसला किया जब तक पंजाब और तुर्की के साथ हुए अन्यायों का प्रतिकार नहीं हो जाता और स्वराज्य प्राप्त नहीं होता। जनता की भावनाओं को इसी बात से समझा जा सकता है कि इस अधिवेशन में अनेक लोगों को स्वराज्य के नारे से संतोष नहीं हुआ, क्योंकि स्वराज्य का अर्थ पूर्ण स्वाधीनता नहीं था। एक प्रमुख राष्ट्रवादी नेता और उर्दू के विख्यात कवि मौलाना हसरत मोहानी ने प्रस्ताव रखा कि स्वराज्य की परिभाषा "सारे विदेशी नियंत्रण से मुक्त पूर्ण स्वाधीनता" के अर्थ में की जाए। यह प्रस्ताव पारित न हो सका, पर इससे जनता की राजनीतिक चेतना में आए उभार का पता चलता है।

फरवरी के आरंभ में गाँधीजी ने गुजरात के बारदोली जिले में कर न चुकाने का अभियान चलाने का फैसला किया। इसी दौरान उत्तर प्रदेश के चौरी चौरा नामक स्थान पर जनता भड़क उठी और उसने एक पुलिस थाने को आग लगा दी जिसमें 22 पुलिसकर्मी जलकर मर गए। जब यह समाचार गाँधीजी तक पहुँचा तो उन्होंने पूरे असहयोग आंदोलन को रोकने का फैसला किया। 12 फरवरी, 1922 को कांग्रेस की वर्किंग कमेटी की मीटिंग हुई, और उसमें चरखे को लोकप्रिय बनाने, हिंदू-मुस्लिम एकता को बढ़ावा देने तथा छुआछूत का मुकाबला करने पर ध्यान केंद्रित करने का फैसला किया गया।

इस समय जो कांग्रेसी नेता जेलों में बंद थे उन्हें आंदोलन रोके जाने की खबर सुनकर अप्रसन्नता हुई। स्वयं गाँधीजी गिरफ्तार कर लिए गए और उन्हें छः साल की जेल की सजा सुनाई गई मगर उन्हें दो वर्षों के अंदर ही रिहा कर दिया गया। तब उन्होंने चरखे को लोकप्रिय बनाने, हिंदू-मुस्लिम एकता को बढ़ावा देने, छुआछूत का मुकाबला करने तथा राष्ट्रीय शिक्षा को प्रोत्साहन देने के कार्यक्रमों पर ध्यान केंद्रित किया। इससे आंदोलन की उपलब्धियों को स्थायी बनाने में सहायता मिली। मोतीलाल नेहरू और चितरंजन दास के नेतृत्व में कांग्रेस के एक भाग ने कांग्रेस-खिलाफत स्वराज्य पार्टी बना ली और फैसला किया

कि वे विभिन्न विधान मंडलों के चुनावों में भाग लेंगे जिसका कि वे अभी तक बहिष्कार करते आए थे। उनका उद्देश्य था –इन संस्थाओं को अंदर रहकर ठप्प करना जब तक कि जनता की माँगें मान नहीं ली जातीं। बाद में मदन मोहन मालवीय और लाला लाजपत राय के नेतृत्व में कुछ लोगों ने विधान मंडलों को अंदर रहकर ठप्प करने की नीति का विरोध किया और सरकार को अपना सहयोग देने का फैसला किया।

सांप्रदायिकता और उसके घातक प्रभाव

असहयोग आंदोलन के रोके जाने के बाद का एक दुर्भाग्यपूर्ण घटनाक्रम था–सांप्रदायिक तनावों का बढ़ना और सांप्रदायिक दंगों का फूट पड़ना। मुसलमानों में तब लीग और हिंदुओं में शुद्धि के आंदोलन आरंभ हुए जिनसे सांप्रदायिक तनाव बढ़ा। दूसरों को मुसलमान बनाने के लिए मुस्लिम संप्रदायवादियों ने तब लीगी आंदोलन का आरंभ किया। हिंदू संप्रदायवादियों ने शुद्धि आंदोलन चलाया, जिसका उद्देश्य दूसरे धर्म अपना चुके व्यक्तियों को वापस हिंदू धर्म में लाना था। सांप्रदायिकता का अर्थ है अपने संप्रदाय के हितों की पूर्ति के लिए राजनीतिक आंदोलन चलाना और दूसरे संप्रदायों को प्राप्त वास्तविक या काल्पनिक लाभों का विरोध करना। संप्रदायवाद की धारणा का आधार यह है कि विभिन्न संप्रदायों के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हित एक-दूसरे से अलग-अलग और भिन्न ही नहीं, बल्कि एक दूसरे के विरोधी भी हैं।

पर ये सांप्रदायिक पार्टियाँ अपने-अपने संप्रदायों के हितों की रक्षा नहीं करती थीं। किसी भी संप्रदाय के हितों को पूरे राष्ट्र के हितों से अलग नहीं किया जा सकता था। सांप्रदायिक पार्टियों को देश की आजादी से कोई सरोकार न था, वे केवल अपने संप्रदायों के उच्च वर्गों के लिए कुछ सुविधाएँ प्राप्त करना चाहती थीं। मुस्लिम लीग ने तीसरे दशक में कांग्रेस से नाता तोड़ लिया और सांप्रदायिक माँगें उठाने लगी। इस बीच अनेक हिंदू सांप्रदायिक संगठन भी बन चुके थे। इनमें सबसे महत्वपूर्ण थी– हिंदू महासभा जो 1915 में स्थापित हुई थी। जिस तरह मुस्लिम लीग मुसलमानों के लिए उन प्रांतों में कुछ विशेषाधिकारों की माँग कर रही थी, जहाँ मुसलमान अल्पसंख्यक थे, उसी तरह हिंदू महासभा ने भी हिंदुओं के लिए उन प्रांतों में कुछ विशेषाधिकारों की माँग की जहाँ वे अल्पसंख्यक थे। ये दोनों ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हाथों में खेलती रहीं।

इन प्रवृत्तियों ने राष्ट्रीय आंदोलन को हानि पहुँचाई। इन्होंने विदेशी शासन से पूर्ण स्वाधीनता के लक्ष्य की ओर से जनता का ध्यान हटाया। विभिन्न संप्रदायों के संप्रदायवादियों की बहुत कुछ बातें मिलती-जुलती थीं। विधान मंडलों में अधिक सीटें पाना उनके लिए देश की आजादी से अधिक प्यारा था। दोनों ही संरक्षण पाने के लिए ब्रिटिश शासकों का मुँह ताकते थे। गरीबी, सामाजिक सुधार और समानता जैसे साधारण जनता से संबंधित प्रश्नों से उन्हें कोई मतलब न था। वे केवल अपने संप्रदाय के उच्च वर्गों के अधिकारों और विशेषाधिकारों के प्रति चिन्तित थे। मूलगामी सामाजिक सुधारों और परिवर्तनों का विरोध करने में दोनों एक ही थैली के चट्टे-बट्टे थे।

सांप्रदायिक विचारों का सिखों के कुछ भागों पर भी असर पड़ा। देश के विभिन्न भागों में हिंदू, मुस्लिम और सिख सांप्रदायिक संगठनों की तरह विभिन्न जातिगत संगठनों ने भी तोड़-फोड़ की भूमिका निभाई।

सांप्रदायिक संगठनों की गतिविधियों और ब्रिटिश सरकार द्वारा उन्हें दिए जा रहे प्रोत्साहन के फलस्वरूप देश के विभिन्न भागों में अनेक सांप्रदायिक दंगे हुए।

स्वराज्य से पूर्ण स्वराज तक (1927-39)

असहयोग आंदोलन के रोके जाने के बाद कुछ वर्षों तक कोई राष्ट्रव्यापी राजनीतिक अभियान या आंदोलन नहीं चला। गाँधीजी का रचनात्मक कार्यक्रम ही अपना लिया गया मगर जल्द ही यह गतिरोध समाप्त हो गया। कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज का उद्देश्य अपनाया और इसे पाने के लिए सविनय अवज्ञा आंदोलन नामक एक शक्तिशाली आंदोलन छेड़ा गया। राष्ट्रवादी आंदोलन का दायरा और भी व्यापक हुआ और स्वाधीनता के प्राप्त हो जाने के बाद देश का सामाजिक-आर्थिक पुनर्निर्माण कर सकने के लिए उसने एक व्यापक कार्यक्रम अपनाया। इस तरह राजनीतिक स्वाधीनता का संघर्ष भारतीय समाज के पुनर्निर्माण की बुनियादी आवश्यकता बन गया।

राष्ट्रीय आंदोलन के इस नए चरण में गाँधीजी के बाद



कलकत्ता में 1937 में
जवाहरलाल नेहरू और सुभाष चंद्र बोस

प्रमुख नेता थे– जवाहरलाल नेहरू। इंग्लैंड में शिक्षा पाने के बाद वे 1912 में भारत लौटे थे। जल्द ही वे गाँधीजी के प्रभाव में आकर राष्ट्रीय आंदोलन में कूद पड़े। तीसरे दशक में उत्तर प्रदेश के किसानों से उनका संपर्क हुआ तो वे बहुत भावुक हो उठे और जीवन पर्यंत दलितों की माँगों के समर्थक बन गए। इस अनुभव के बारे में उन्होंने लिखा है: " भारत की हीन दशा और भयंकर निर्धनता से मेरा मन शर्म और दु:ख से भर उठा। भूखे खाली पेट, कुचले हुए और अत्यंत दारुण भारत का एक नया चित्र मेरे सामने उभर आया।" भारत की " खोज" ने उनकी राष्ट्रवादी भावनाओं को और भी प्रखर बनाया और उनके लिए राष्ट्रीय स्वाधीनता तथा जनता की दशा में सुधार के संघर्ष एक हो गए। दिसंबर 1921 में वे भी अपने पिता मोतीलाल नेहरू और अन्य राष्ट्रीय नेताओं के साथ गिरफ़्तार कर लिए गए। वे कुछ हफ्तों बाद रिहा कर दिए गए, फिर गिरफ़्तार किए गए और दोबारा 1923 के आरंभ में रिहा किए गए। तब वे भ्रष्ट महंतों के ख़िलाफ़ अकाली सिखों का प्रदर्शन देखने के लिए नाभा गए जो एक रजवाड़ा था। वहाँ वे गिरफ़्तार कर लिए गए और दिखावे के एक मुकदमे के बाद उन्हें सजा सुनाई गई। नाभा के इस अनुभव के बाद वे भारत के एक दूसरे भाग, यानी भारतीय शासकों के रजवाड़ों की जनता के अधिकारों के समर्थक बने। इन रजवाड़ों के शासकों के उत्पीड़न के ख़िलाफ़ वहाँ की जनता के आंदोलन कुछ ही वर्षों में राष्ट्रीय आंदोलन का एक अभिन्न अंग बन गए। जब मौलाना मुहम्मद अली कांग्रेस के अध्यक्ष बने तो वे कांग्रेस के महासचिव चुने गए।

इस काल में उभरने वाले एक और महत्त्वपूर्ण नेता थे–सुभाषचंद्र बोस। कलकता और केंब्रिज में शिक्षा पाने के बाद वे इंडियन सिविल सर्विस के लिए चुने गए परंतु सरकारी नौकरी न करके वे राष्ट्रीय संघर्ष में कूद पड़े। राष्ट्रीय आंदोलन को मज़बूत बनाने के लिए उन्होंने देश भर में छात्रों और युवकों के संगठन बनाए। आतंकवादी गतिविधियाँ चलाने के आरोप में वे 1924 में गिरफ़्तार कर लिए गए। जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस राष्ट्रीय आंदोलन के उग्रपंथी धड़े के नेता और पूरे देश में युवकों के हृदय-सम्राट बन गए।

साइमन कमीशन

नवंबर 1927 में ब्रिटिश सरकार ने 1919 के भारत सरकार के अधिनियम पर विचार करने तथा आवश्यक



प्रस्तुत चित्र में लाला लाजपत राय के नेतृत्व में होने वाले एक प्रदर्शन में पुलिस प्रदर्शनकारियों पर आक्रमण कर रही है, यह प्रदर्शन साइमन कमीशन के विरोध में लाहौर में आयोजित किया गया था। इस दौरान लालाजी को भयानक चोट लगी जिसके कारण उनका देहांत हो गया।

परिवर्तनों के सुझाव देने के लिए साइमन कमीशन का गठन किया। इस कमीशन में एक भी भारतीय नहीं था। इस आयोग से जिन बातों पर विचार करने को कहा गया उनसे भारतीय जनता को स्वराज्य पा सकने की जरा-सी आशा भी नहीं हुई।

दिसंबर 1927 में कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन में पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव पारित हो गया। यह पहला मौका था जब कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य की माँग करते हुए एक प्रस्ताव पारित किया था। एक और प्रस्ताव के द्वारा साइमन कमीशन के बहिष्कार का भी फैसला किया गया।

फरवरी 1928 में साइमन कमीशन भारत पहुँचा। देशव्यापी हड़ताल से उसका स्वागत किया गया। केंद्रीय विधानसभा के अधिकतर सदस्यों ने कमीशन का बहिष्कार किया। कमीशन के विरोध के लिए पूरे देश में कमेटियाँ बनाई गईं ताकि जहाँ भी वह जाए उसके ख़िलाफ़ प्रदर्शनों और हड़तालों का आयोजन किया जाए। अनेक जगहों पर पुलिस ने शांतिपूर्ण प्रदर्शनकारियों को पीटा। लाला लाजपतराय पर लाठियों से प्रहार किया गया जिससे कुछ दिनों बाद उनका निधन हो गया। गोविंद बल्लभ पंत लाठियों की मार से जीवन भर के लिए बहुत अक्षम हो गए।

इस दौर में दो घटनाओं के कारण जनता क्षुब्ध हो उठी। मार्च 1929 में 31 मज़दूर नेता षड्यंत्र के आरोप में गिरफ़्तार कर लिए गए। इनमें तीन अंग्रेज़ भी थे जिन्होंने भारत में मज़दूर आंदोलन संगठित करने में मदद दी थी। वे मेरठ ले जाए गए जहाँ उन पर मुकदमा चलाया गया। चार साल तक चलने वाला यह मुकदमा मेरठ षड्यंत्र कांड कहलाता है। पूरे देश में तथा इंग्लैंड और दूसरे देशों में भी अभियुक्तों के लिए अनेक बचाव कमेटियाँ बनाई गईं। राष्ट्रीय नेताओं ने मुकदमे में अभियुक्तों की ओर से पैरवी की। कुछ अभियुक्त रिहा कर दिए गए, परन्तु दूसरों को सजा मिली। इस काल में मज़दूरों के संगठन बढ़ रहे थे और राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभा रहे थे।

अनेक ब्रिटिश समाजवादियों ने भी मजदूरों को संगठित होने में मदद दी। इससे ब्रिटिश सरकार भयभीत हो उठी और 1929 में उसने जन-सुरक्षा अध्यादेश (पब्लिक सेफ्टी एक्ट) जारी किया, जिससे वह ब्रिटिश और विदेशी कम्युनिस्ट एजेंट समझे जाने वाले व्यक्तियों को भारत से निकाल सके। मज़दूर संगठनों की गतिविधियों पर अंकुश लगाने के लिए भी ब्रिटिश सरकार ने एक कानून बनाया।

लाहौर षड्यंत्र केस नाम का एक और मुकदमा भी चला। असहयोग आंदोलन के रोके जाने के बाद क्रांतिकारी गतिविधियाँ फिर से आरंभ हो गई थीं। हिंदुस्तान प्रजातंत्र संघ के चार क्रांतिकारियों को काकोरी षड्यंत्र केस नामक एक मुकदमे के बाद फाँसी दे दी गई। इनमें रामप्रसाद बिस्मिल और अशफाकुल्लाह भी शामिल थे। 1928 में चंद्रशेखर आज़ाद, भगतसिंह, सुखदेव और दूसरे युवकों ने हिंदुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र संघ नामक एक नए क्रांतिकारी संगठन की स्थापना की। 8 अप्रैल, 1929 को भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त केंद्रीय विधानसभा गए, वहाँ सरकारी बेंचों की तरफ बम फेंका और "इंकलाब जिंदाबाद" का नारा लगाया। किसी भी सदस्य को चोट नहीं आई और शायद बम फेंकने का यह उद्देश्य भी न था। भगतसिंह और दत्त ने वहीं आत्मसमर्पण कर दिया और हिरासत में ले लिए गए। बाद में संघ के अनेक दूसरे सदस्य भी गिरफ़्तार कर लिए गए। उनका गुप्त बम कारखाना भी पकड़ा गया। चंद्रशेखर आज़ाद को छोड़कर सभी प्रमुख सदस्य गिरफ़्तार कर लिए गए। चन्द्रशेखर आज़ाद बाद में पुलिस के साथ मुठभेड़ में मारे गए। उन पर अन्य बातों के साथ लाहौर के पुलिस अधीक्षक की हत्या का आरोप भी लगाया गया। इन कैदियों के साथ जेल में बहुत निर्मम व्ययवहार किया गया। जतीन दास नामक एक राजनीतिक कैदी 64 दिनों की भूख हड़ताल के बाद शहीद हो गए। बाद में भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को फाँसी दे दी गई। उनकी फाँसी से सारे देश में गुस्से की लहर दौड़ गई।

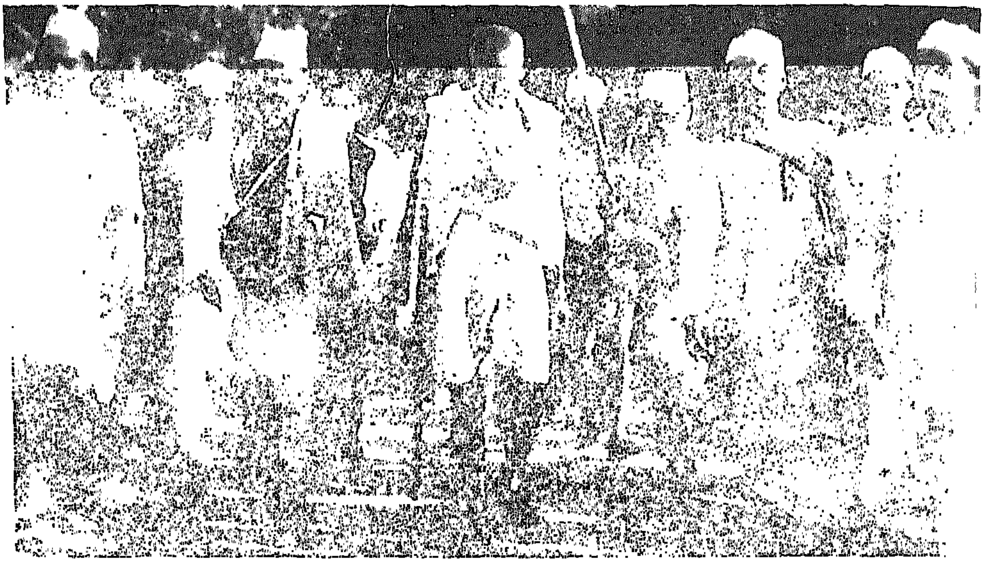
लाहौर कांग्रेस और सविनय अवज्ञा आंदोलन

दिसंबर 1929 में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन लाहौर में हुआ। इसके अध्यक्ष जवाहर लाल नेहरू थे। यहाँ कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य को अपना लक्ष्य स्वीकार किया और इसकी प्राप्ति के लिए गाँधीजी के नेतृत्व में एक सविनय अवज्ञा आंदोलन चलाने का फैसला किया। प्रतिवर्ष 26 जनवरी को पूरे देश में स्वाधीनता दिवस मनाने का भी निश्यच किया गया। 26 जनवरी, 1930 को देश में सब जगह सभाओं का आयोजन किया गया और कांग्रेस का तिरंगा झंडा फहराया गया। इन सभाओं में स्वतंत्रता की शपथ ली गई। शपथ में कहा गया था :

"भारत की ब्रिटिश सरकार ने भारत की जनता को स्वाधीनता से ही वंचित नहीं किया है, बल्कि उसका आधार ही जनता का शोषण है और उसे भारत को आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टियों से बर्बाद किया है। इसलिए हमारा विश्वास है कि भारत को ब्रिटेन से संबंध-विच्छेद करके पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना चाहिए। जिस शासन-व्यवस्था ने हमारे देश में उपरोक्त चार प्रकार की बरबादी ढहाई हैं अब आगे उसके अधीन रहना हम मानवता और ईश्वर के प्रति अपराध समझते हैं परन्तु हम समझते हैं कि स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए अहिंसात्मक आंदोलन ही सबसे प्रभावशाली ढंग है इसलिए हम स्वंय को सविनय अवज्ञा आंदोलन के लिए तैयार करेंगे। करों की अदायगी न करना भी इसमें शामिल है।"

राष्ट्रीय आंदोलन में इस दिन के महत्व के कारण ही 26 जनवरी, 1950 में भारतीय गणराज्य की घोषणा की गई। इस तरह स्वाधीनता के पहले 26 जनवरी को स्वाधीनता दिवस मनाया जाता था और स्वाधीनता के बाद इस दिन गणतंत्र दिवस मनाया जाने लगा।

सविनय अवज्ञा आंदोलन का आरंभ डांडी-यात्रा से हुआ। 78 अनुयायियों को साथ लेकर गाँधीजी साबरमती स्थित अपने आश्रम से चले और पदयात्रा करते हुए समुद्रतट पर स्थित डाँडी पहुँचे। वहाँ उन्होंने नमक उठाकर नमक कानून तोड़ा। अप्रैल में उन्होंने आंदोलन आरंभ करने की आज्ञा दी। "प्रत्येक गाँव में कानून तोड़कर नमक बनाया जाए। बहनें शराब की दुकानों, अफीम के अड्डों और विदेशी वस्त्र बेचने वालों की दुकानों पर धरना दें। विदेशी वस्त्रों की होली जलाई जाए। हिन्दू छुआछूत का परित्याग करें। छात्र सरकारी स्कूल और कालेज छोड़ें और सरकारी कर्मचारी अपनी नौकरियों से त्यागपत्र दें। तब हम जल्द ही देखेंगे कि पूर्ण स्वराज्य हमारे दरवाजे पर आकर दस्तक



साबरमती आश्रम से डांडी-यात्रा पर जाते हुए अपने अनुयायियों के साथ गाँधीजी

दे रहा होगा।''

सविनय अवज्ञा आंदोलन ज्यों ही आरंभ हुआ, गाँधीजी और जवाहरलाल नेहरू समेत सभी महत्वपूर्ण नेता गिरफ़्तार कर लिए गए। 1931 के आरंभ तक 90,000 लोग जेलों में बंद थे और 67 समाचार-पत्रों पर प्रतिबंध लग चुका था। अप्रैल और मई 1930 में तीन नाटकीय घटनाएँ हुईं – पेशावर में भारतीय सैनिकों ने प्रदर्शनकारियों पर गोली चलाने का आदेश मानने से इनकार कर दिया, शोलापुर में जन-विद्रोह को दबाने के लिए मार्शल ला लगाना पड़ा। चटगाँव में क्रांतिकारियों ने सरकारी हथियारखाने पर कब्जा कर लिए, जिसके बाद सरकारी सैनिकों और क्रांतिकारियों के बीच घमासान गोलीबारी हुई।

जनवरी 1931 में गाँधीजी और कुछ अन्य नेता रिहा कर दिए गए। मार्च में गाँधी-इर्विन समझौता हुआ, जिसके अनुसार आंदोलन वापस ले लिया गया। सरकार ने वचन दिया कि हिंसा के आरोप में गिरफ़्तार लोगों को छोड़कर सभी राजनीतिक बंदी रिहा कर दिए जाएँगे। कांग्रेस दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए तैयार हो गई। यह सम्मेलन एक नए संविधान के प्रश्न पर विचार करने के लिए आयोजित किया गया था।

1931 में कांग्रेस का अधिवेशन करांची में हुआ। इसमें गांधी-इर्विन समझौते को मान्यता दी गई। करांची अधिवेशन का सबसे महत्वपूर्ण योगदान था – मौलिक अधिकारों और आर्थिक नीति संबंधी प्रस्ताव। इसमें स्वतंत्रता के बाद भारतीय समाज के पुनर्निर्माण की एक योजना की रूपरेखा पेश की गई थी। बाद में भारत के संविधान और भारतीय गणराज्य की सामाजिक आर्थिक नीतियों का आधार इसी प्रस्ताव के उद्देश्यों और आदर्शों को बनाया गया।

गाँधीजी जब गोलमेज सम्मेलन के बाद लंदन से लौटे, और नए वायसराय लार्ड विलिंग्डन ने उनसे मिलने से इन्कार कर दिया, तो सविनय अवज्ञा आंदोलन फिर से आरंभ किया गया। गाँधीजी गिरफ़्तार कर लिए गए पर आंदोलन दो वर्षों तक चला। इस बार सरकार का दमन पहले से अधिक भयानक था। अप्रैल 1933 तक एक लाख बीस हजार के लगभग लोग कैद किए जा चुके थे। सविनय अवज्ञा आंदोलन मई 1934 में रोक दिया गया।

इस आंदोलन में सभी क्षेत्रों और संप्रदायों के लाखों बूढ़े-जवान, स्त्री-पुरुष शामिल हुए थे। इस दौर में हिंदू

और मुस्लिम, दोनों तरह के सांप्रदायिक संगठन विधानमंडलों में अपनी सीटें बढ़ाने के चक्कर में लगे रहे और स्वाधीनता के आंदोलन से अलग रहे। उनके अनुयायियों की संख्या कुछ खास न थी और आंदोलन पर उनका कोई गंभीर प्रभाव नहीं पड़ा।

समाजवादी विचारों का प्रभाव

ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना 1920 में हुई थी। ट्रेड यूनियन आंदोलन को अनेक राष्ट्रीय नेताओं का समर्थन प्राप्त था। मजदूरों की जीवन-दशा सुधारने के प्रयास करने के अलावा इस आंदोलन ने मजदूरों को पूर्ण स्वाधीनता के संघर्ष में भी खींचा।

किसान प्रथम विश्वयुद्ध के अंतिम वर्षों में ही राष्ट्रीय संघर्ष में शामिल होने लगे थे। जमींदारों और सरकार के ख़िलाफ़ किसानों को आर्थिक शिकायतें थीं और इसलिए वे राष्ट्रीय संघर्ष में लामुहाला शामिल हुए। अंग्रेज़ शासकों के शोषण और दमन के ख़िलाफ़ 1917-18 में गाँधीजी ने बिहार में चंपारन का आंदोलन चलाया था। असहयोग आंदोलन के दौरान पूरे देश में किसानों ने अपने ऊपर लदी भारी मालगुजारियों का विरोध किया और उनकी यह माँग स्वराज्य के संघर्ष का अभिन्न अंग बन गई। बाद में अनेक किसान संगठनों की स्थापना हुई। इन संगठनों ने स्वाधीनता संघर्ष में भाग लिया, भारी भूमि-करों के ख़िलाफ़ अभियान छेड़े और जमींदारी प्रथा के उन्मूलन की पैरवी की । अनेक राष्ट्रीय नेताओं ने किसानों के संघर्षों का नेतृत्व किया। स्वाधीनता के संघर्ष में किसानों की भागीदारी ने उसे और व्यापक आधार दिया और फैलाया। किसानों के कष्टों को दूर करने के लिए भूमि सुधारों का उद्देश्य स्वाधीनता-संघर्ष का एक प्रमुख लक्ष्य बन गया।

समाजवादी विचारों का भी प्रभाव राष्ट्रीय आंदोलन पर पड़ा। राष्ट्रीय नेताओं की सोच पर रूस की क्रांति का गहरा असर पड़ा था। अनेक नेता समाजवादी विचारधारा के थे और उन्होंने समाजवादी नीतियों के अपनाए जाने पर बल दिया। इन नेताओं में सबसे महत्वपूर्ण थे–जवाहरलाल नेहरू जो कार्ल मार्क्स और अन्य समाजवादी विचारकों के विचारों से प्रभावित हुए थे और जिन्होंने यूरोप के समाजवादी नेताओं से घनिष्ठ संबंध स्थापित किए थे। उन्होंने समाजवादी विचारों को लोकप्रिय बनाया और कांग्रेस को इसके लिए तैयार किया कि वह सामाजिक-आर्थिक पुनर्निर्माण का एक मूलगामी कार्यक्रम अपनाए। हालाँकि कांग्रेस ने पूरी तरह समाजवादी विचारधारा को तो नहीं अपनाया, फिर भी सामाजिक और आर्थिक मामलों में उनके विचारों ने राष्ट्रीय आंदोलन की नीतियों को प्रभावित किया। नेहरू के समर्थन से 1934 में कांग्रेस समाजवादी पार्टी की स्थापना हुई। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अंदर ही रहकर काम करने वाली यह पार्टी भारत के भविष्य का फैसला करने तथा यहाँ एक समाजवादी समाज का निर्माण करने के लिए एक संविधान सभा बुलाए जाने की पैरवी करती थी। इससे पहले 1925 में ही भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हो चुकी थी और औद्योगिक मजदूरों पर उसका बहुत अधिक प्रभाव था। इसकी माँग थी कि राष्ट्रीय आंदोलन का आधार मज़दूरों की माँगों को बनाया जाए। इसके बहुत से नेता कांग्रेस समाजवादी पार्टी से आए और उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में भी कार्य किया।

रज़वाड़ों की जनता का आंदोलन

उस समय भारत में लगभग 600 रज़वाड़े (देशी राज्य या रिसायतें) थे जिन पर भारतीय राजा-महराजा राज करते थे। भारत के क्षेत्रफल का लगभग एक-तिहाई हिस्सा इन रज़वाड़ों में था और देश की जनसंख्या का कोई पाँचवाँ भाग इनमें रहता था। कई रज़वाड़े तो इतने छोटे थे कि उनको जमींदारी कहना अधिक उचित होगा। हैदराबाद जैसे कुछ बड़े राज्य भी थे जिनकी आबादी लाखों में थी। 1857 के विद्रोह के बाद इन रज़वाड़ों को बने रहने दिया गया था हालाँकि वे ब्रिटिश सरकार की दया पर निर्भर थे। चूँकि उनका अस्तित्व ब्रिटिश सरकार के कारण था, इसलिए वे भारत में ब्रिटिश शासन के वफ़ादार समर्थक थे। इन रज़वाड़ों के शासक अत्यंत निरंकुशता के साथ अपना शासन चलाते थे। इन राज्यों की जनता अनेक राजनीतिक और आर्थिक कष्टों से पीड़ित थी। उन्हें कोई नागरिक अधिकार हासिल न थे। राजा की इच्छा ही कानून होती थी और जनता को बेगार भी करना पड़ता था। जनता तो उत्पीड़ित थी पर शासक भोग-विलास में डूबे पतित जीवन बिताते थे। रज़वाड़ों में राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक सुधार के



लुधियाना में 1939 में जवाहर लाल नेहरू को एक जुलूस में ले जाया जा रहा है। यहाँ ऑल इंडिया स्टेट्स पीपुल्स कांफ्रेंस का अधिवेशन हुआ जिसकी अध्यक्षता जवाहरलाल नेहरू ने की

प्रयासों को बेरहमी से कुचल दिया जाता था। राष्ट्रीय आंदोलन सही अर्थों में राष्ट्रीय बन सके, इसके लिए आवश्यक था कि वह शासकों के उत्पीड़न से रज़वाड़ों की जनता की मुक्ति के लिए भी चिंतित हों। एक लंबे समय तक कांग्रेस ने इन रज़वाड़ों के लोगों के दु:खी जीवन की ओर कोई खास ध्यान नहीं दिया। मगर अनेक राज्यों की जनता नागरिक अधिकारों की माँगों को लेकर संगठित हुई। 1927 में अखिल-भारतीय राज्य प्रजामंडल (ऑल इंडिया स्टेट्स पीपुल्स कांफ्रेंस) की स्थापना की गई। प्रजामंडल ने रज़वाड़ों की दशाओं की ओर पूरे देश की जनता का ध्यान खींचा। एक बयान में प्रजामंडल ने कहा :

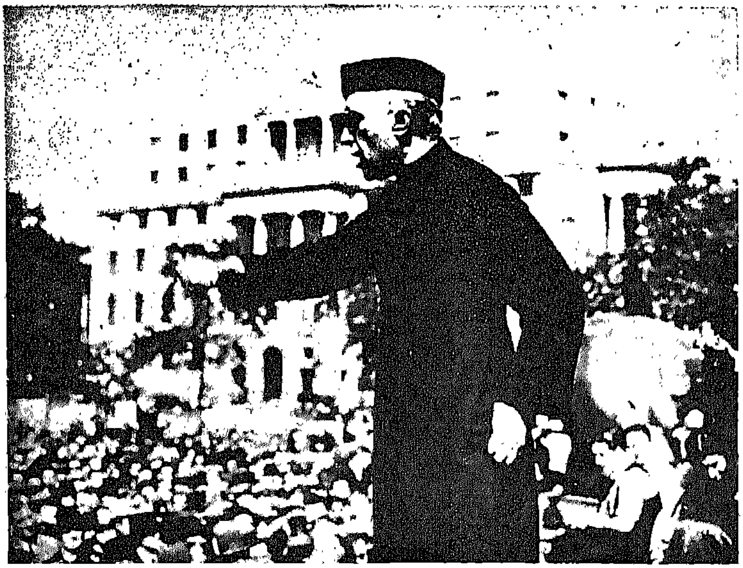
"अपवाद के रूप मे थोड़े से रज़वाड़ों को छोड़ दें तो बड़े-छोटे सभी रज़वाड़ों में शासकों का व्यक्तिगत, निरंकुश शासन चलता है। कानून का शासन कहीं भी नहीं है और जनता के ऊपर करों का बोझ भयानक और असह्य है। जनता को नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं हैं। आमतौर पर राजाओं का निजी व्यय निश्चित नहीं है और कहीं है भी तो उसका पालन नहीं किया जाता। एक तरफ शासक भोग-विलास में अंधाधुंध धन खर्च करते हैं और दूसरी ओर जनता अत्यधिक निर्धनता की शिकार है।"

"निर्धनता और दुर्दशा की मारी जनता के खून-पसीने से प्राप्त धन से उनके शासक विदेशों में और भारत में गुलछर्रे उड़ाते और अय्याशी करते हैं। यह व्यवस्था नहीं चल सकती। कोई भी सभ्य जनता इसे बर्दाश्त नहीं कर सकती। इतिहास की गति इस व्यवस्था के विपरीत है। भारतीय जनता इस अत्याचार को चुप होकर नहीं सह सकती।"

कांग्रेस ने भी धीरे-धीरे यही दृष्टिकोण अपना लिया और उसने रज़वाड़ों की जनता के अधिकारों को मान्यता प्रदान की। उसने घोषणा की कि " कांग्रेस राज्यों में भी (शेष देश की तरह ही) राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्वतंत्रता की पक्षधर है क्योंकि ये रजवाड़े भारत के अभिन्न अंग हैं और इन्हें भारत से अलग नहीं किया जा सकता। पूर्ण स्वराज्य जो कांग्रेस का लक्ष्य है, रज़वाड़ों समेत पूरे भारत के लिए है क्योंकि स्वाधीनता में भी भारत की एकता और अखंडता वैसे ही बनी रहनी चाहिए जैसी कि पराधीनता में रही है।" इस तरह देशी शासकों के दमन का खात्मा राष्ट्रीय आंदोलन के कार्यक्रम का अंग बन गया और एक संगठित भारत की स्थापना का लक्ष्य स्पष्ट शब्दों में सामने रखा गया।

राष्ट्रीय आंदोलन और विश्व

भारत के राष्ट्रवादी आंदोलन का दूसरे देशों की घटनाओं से आदि से अंत तक एक घनिष्ठ संबंध रहा है। रूस और जापान के युद्ध , प्रथम विश्वयुद्ध और रूस की क्रान्ति का राष्ट्रीय आंदोलन पर जो प्रभाव पड़ा, उसके बारे में आप पढ़ चुके हैं। भारत के बाहर के अनेक लोगों ने भी राष्ट्रीय आंदोलन का समर्थन किया। आप पढ़ चुके हैं कि बहुत पहले, 1857 में भी इंग्लैंड में ऐसे लोग थे जिन्होंने भारत में ब्रिटिश सरकार द्वारा किए गए अत्याचारों के ख़िलाफ़



ट्रैफ़लगर स्क्वेयर, लंदन मे 1938 में स्पेनी रिपब्लिकन लोगों के समर्थन में आयोजित एक जनसभा को संबोधित करते हुए जवाहरलाल नेहरू

इंग्लैंड की जनता की अंतरात्मा को झकझोरने की कोशिशें की थीं। बीसवीं सदी में प्रवासी भारतियों ने अनेक देशों में वहाँ के लोगों के सहयोग से ऐसे संगठन बनाए जो इन देशों में भारत की स्वाधीनता के लक्ष्य का प्रचार करते थे। इनमें से एक महत्वपूर्ण संगठन था – इंग्लैंड की इंडिया लीग – जिसने भारत में ब्रिटिश सरकार की नीतियों के खिलाफ ब्रिटिश जनमत को जगाने के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया। ब्रिटेन की लेबर पार्टी के अनेक नेताओं ने भारत की स्वाधीनता के लिए सक्रिय प्रचार किया।

धीरे-धीरे हमारे नेता दूसरे देशों के स्वाधीनता-आंदोलनों के प्रति भी सचेत हुए और उनका समर्थन किया। अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों पर भारतीय जनता की चेतना को विकसित करने में जवाहरलाल नेहरू की महत्वपूर्ण भूमिका थी। जब वे 1927 में यूरोप गए तो उन्होंने ब्रसल्स में उत्पीड़ित राष्ट्रों के सम्मेलन में भाग लिया जिसका आयोजन प्रसिद्ध वैज्ञानिक अलबर्ट आइंस्टाइन, लेखक रोमां रोला और अनेक दूसरे लोगों ने किया था। वहाँ लीग अगेंस्ट इम्पीरियलिज्म नामक संगठन की स्थापना हुई और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस उससे संबद्ध हो गई। हर जगह साम्राज्यवाद के खात्मे के लिए इस लीग ने अभियान चलाया।

1931 में जब चीन पर जापानी हमलों की शुरुआत हुई तो भारतीय जनता ने चीन का समर्थन किया। तीसरे और चौथे दशक में यूरोप में फ़ासीवाद का विकास हुआ, खासकर जर्मनी और इटली में जहाँ फ़ासीवादी शक्तियों ने सत्ता हथिया ली और जनता की सभी साधारण स्वतंत्रताएँ तक समाप्त कर दीं। जब फासीवादी देशों ने विश्व-विजय की योजनाएँ बनानी आरंभ कर दीं तो लोकतंत्र और स्वतंत्रता को ऐसा खतरा पैदा हो गया जैसा कि पहले साम्राज्यवाद के कारण भी नहीं हुआ था। फ़ासीवाद ने विश्व की जनता के लिए जो खतरे पैदा किए उनको भारतीय राष्ट्रवादियों ने समझा। कांग्रेस ने फ़ासीवाद का विरोध और उसके खिलाफ़ लड़ रही जनता का समर्थन किया। स्पेन की लोकतांत्रिक सरकार के खिलाफ़ वहाँ के फ़ासीवादियों ने जब बगावत की तो जर्मनी के हिटलर ने उन्हें समर्थन दिया। यूरोप के दूसरे देश स्पेन के गृहयुद्ध और जर्मन जहाजों द्वारा स्पेनी गाँवों और नगरों की निर्दोष जनता पर बमबारी

के प्रति उदासीन रहे। दुनिया भर के सामान्य नागरिकों द्वारा बनाई गई अंतर्राष्ट्रीय स्वयंसेवक ब्रिगेड ने स्पेन के गृहयुद्ध में गणतंत्रवादियों के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर फासीवादियों का मुकाबला किया।

स्पेन के गृहयुद्ध ने हर जगह जनता की अंतरात्मा को झकझोरा और उसे फ़ासीवाद के कारण उपस्थित खतरे के प्रति सजग किया। जवाहरलाल नेहरू जो इस समय यूरोप में थे, स्पेन गए और वहाँ की जनता के प्रति संकट की घड़ी में भारत के राष्ट्रीय आंदोलन का समर्थन व्यक्त किया। जब इटली के तानाशाह मुसोलिनी ने नेहरू से मिलने की इच्छा व्यक्त की तो उन्होंने उससे मिलने से इन्कार कर दिया। उन्हें पश्चिम देशों के लोकतांत्रिक दिखावों के प्रति भी कोई भ्रम नहीं रहा। उन्होंने स्पेन के साथ धोखा किया था। जल्द ही चैकोस्लोवाकिया के साथ भी धोखा करके उन्होंने उसे जर्मनी के हवाले कर दिया। जब पश्चिम देशों की सरकारों ने चैकोस्लोवाकिया के साथ धोखा किया तो जवाहर लाल नेहरू ने इनके बारे में कहा कि "आज से सदियों बाद तक इतिहास इस कुकृत्य को याद रखेगा और उन्हें माफ़ नहीं करेगा।''

जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में भारतीय जनता जो अपनी स्वाधीनता के लिए लड़ रही थी, दूसरे देशों में भी लोकतंत्र और स्वतंत्रता का पूर्णतया समर्थन करने लगी । पूरे विश्व के उत्पीड़ित जनगणों के साथ यह भाईचारे की भावना आगे चलकर स्वतंत्र भारत की विदेश नीति का आधार बन गई। इसके साथ ही महात्मा गाँधी के नेतृत्व में स्वाधीनता के लिए लड़ रही भारतीय जनता में यह विचार भी पनपा कि उनका झगड़ा ब्रिटिश जनता से नहीं, बल्कि ब्रिटिश सरकार से है।

सांविधानिक विकास

ब्रिटिश सरकार ने 2 अगस्त, 1935 को भारत सरकार अधिनियम लागू किया। इस अधिनियम में ब्रिटिश भारत के प्रांतों और भारतीय रज़वाड़ों का एक अखिल-भारतीय संघ बनाने तथा ब्रिटिश प्रांतों में स्वायत्त शासन स्थापित करने की व्यवस्था थी। केंद्र में एक केंद्रीय विधानसभा और एक राज्य परिषद् कायम करने की व्यवस्था थी। केंद्र के दोनों सदनों में भारतीय शासकों को उनके अनुपात से बहुत अधिक प्रतिनिधित्व दिया जाने वाला था। संघ की स्थापना से संबंधित व्यवस्था कभी लागू न हो सकी और नया संविधान केवल प्रांतों में ही लागू किया गया।

स्वाधीनता की ओर राष्ट्रीय आंदोलन, 1935-39

अप्रैल 1936 में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन लखनऊ में हुआ। जवाहरलाल नेहरू इसके अध्यक्ष थे। 1934 में कांग्रेस ने माँग की थी कि भारत का संविधान बनाने के लिए बालिग मताधिकार के आधार पर निर्वाचित एक संविधान सभा का गठन किया जाए। दिसंबर 1936 में एक विशेष अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित करके कांग्रेस ने 1935 के भारत सरकार अधिनियम को अस्वीकृत कर दिया और कहा कि जनता की इच्छा के विरुद्ध भारत पर यह कानून लादा गया है। उसने संविधान सभा की माँग फिर दोहराई।

कांग्रेस ने भारत सरकार अधिनियम की निंदा तो की पर उसने प्रांतीय विधानसभाओं के चुनावों में भाग लेने का फैसला किया जो 1937 में होने वाले थे। कांग्रेस के चुनाव घोषणा-पत्र में एक संविधान सभा बुलाए जाने की माँग की गई। इसमें किसानों को निर्मम शोषण से बचाने के लिए भूमि-सुधारों की, स्त्रियों और पुरुषों के समान अधिकारों की और मज़दूरों की दशा में सुधार की बातें भी कही गई थीं।

1937 में हुए इन चुनावों में लगभग एक करोड़ पचपन लाख लोगों ने मतदान किया । कांग्रेस के अलावा मुस्लिम लीग तथा दूसरी कई पार्टियों ने इन चुनावों में भाग लिया। देश के अधिकांश भागों में कांग्रेस की भारी जीत हुई। छह प्रांतों में इसे पूर्ण बहुमत मिला और दूसरे तीन प्रांतों में यह सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी। इन चुनावों में मुसलमानों के लिए 482 सीटें आरक्षित थीं। पूरे भारत के मुसलामानों की प्रतिनिधि होने का दावा करने वाली मुस्लिम लीग को इनमें केवल 108 सीटें मिलीं। चार प्रांतों में, जिनमें मुस्लिम-बहुल पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत भी शामिल था, लीग को एक सीट भी न मिल सकी। पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत में ख़ान अब्दुल गफ्फार ख़ाँ के नेतृत्व में राष्ट्रीय आंदोलन को महत्वपूर्ण जीत प्राप्त हुई। धर्म के नाम पर राष्ट्रीय आंदोलन में फूट डालने की कोशिश करने वाली मुस्लिम लीग का यहाँ कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

चुनावों के बाद प्रांतों में मंत्रिमंडल बनाने का सवाल आया। अनेक नेताओं ने कांग्रेस द्वारा मंत्रिमंडल बनाए जाने का विरोध किया। बहरहाल, बहुमत के द्वारा यह फ़ैसला हुआ कि जिन प्रांतों में कांग्रेस को बहुतम मिला है वहाँ वह मंत्रिमंडल बनाए। जुलाई 1937 में वायसराय ने आश्वासन दिया कि गवर्नर प्रांतीय प्रशासन में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। तब कांग्रेस ने छ: प्रांतों – संयुक्त प्रांत, मध्य प्रांत, बिहार, उड़ीसा, मद्रास और बंबई – में अपने मंत्रिमंडल बनाए। पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत और असम में बाद में कांग्रेस ने मंत्रिमंडल बनाए और सिंध में कांग्रेस के समर्थन से एक मंत्रिमंडल बनाया गया।

सत्ता में आने के फौरन बाद इन मंत्रिमंडलों ने कुछ महत्वपूर्ण कदम उठाए। राजनीतिक बंदी छोड़ दिए गए और समाचार-पत्रों पर लगा प्रतिबंध उठा लिया गया। शिक्षा के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण कदम उठाए गए।

1938 में सुभाषचंद्र बोस की अध्यक्षता में कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार के उस प्रस्ताव के प्रति पूर्ण विरोध प्रकट किया जो केंद्र में एक संघ की स्थापना से संबंधित था। उसने तत्काल पूर्ण स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए एक आंदोलन चलाने का फैसला किया। यह प्रस्ताव रखा गया कि ब्रिटिश सरकार को चेतावनी दी जाए कि वह पूर्ण स्वाधीनता की माँग मान ले, वर्ना उसके ख़िलाफ़ आंदोलन चलाया जाएगा। मगर उसके अगले साल कांग्रेस में मतभेद हो गया और सुभाषचंद्र बोस ने फैसला किया कि कांग्रेस के त्रिपुरी अधिवेशन में वे अध्यक्ष के पद के लिए चुनाव लड़ेंगे। यह पहला मौका था जब कांग्रेस के अध्यक्ष पद के लिए चुनाव लड़ा गया। सुभाषचंद्र बोस अध्यक्ष चुने तो गए पर उनसे माँग की गई कि वे गाँधीजी की सलाह के अनुसार वर्किंग कमेटी का गठन करें। परंतु ये दोनों नेता राजी न हो सके और सुभाषचंद्र बोस ने इस्तीफा दे दिया। बाद में देश के उग्र विचार वाले तत्वों को एकजुट करने के लिए उन्होंने फ़ारवर्ड ब्लाक नाम से अलग संगठन बनाया।

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन : द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान

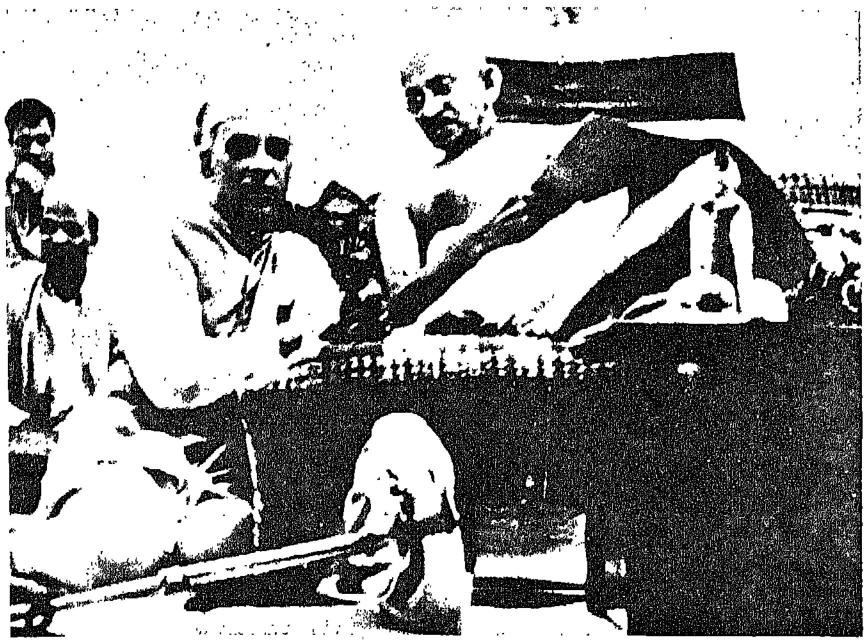
सितंबर 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ गया और ब्रिटिश सरकार ने भारत को भी युद्ध में धकेल दिया। भारतीय जनता की राय लिए बगैर बिल्कुल एकतरफा ढंग से भारत को भी युद्धरत देश घोषित कर दिया गया।

युद्ध जैसे ही छिड़ा, कांग्रेस ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से सामने रखा। इसने फ़ासीवादी देशों–जर्मनी, इटली और उनके सहयोगी जापान – द्वारा एशिया, अफ्रीका और यूरोप के देशों पर किए गए हमलों की निंदा की और हमलों की शिकार हुई जनता के प्रति सहानुभूति व्यक्त की। स्वतंत्रता की रक्षा के लिए लड़ने का दावा करने वाले ब्रिटेन ने भारतीय जनता की स्वतंत्रता छीनकर भारत को युद्ध में खींच लिया था। कांग्रेस की वर्किंग कमेटी ने एक प्रस्ताव में कहा कि "अभी हाल में अपनी स्वतंत्रता पाने और भारत में एक स्वतंत्र लोकतांत्रिक राज्य की स्थापना के लिए भारत की जनता ने गंभीर चुनौतियों का सामना किया है और स्वेच्छापूर्वक महान बलिदान दिए हैं। इसलिए उनकी सहानुभूति पूरी तरह से लोकतंत्र और स्वतंत्रता के पक्ष में है। पर भारत का एक ऐसे युद्ध से कोई संबंध नहीं हो सकता जो कहने को तो लोकतांत्रिक स्वतंत्रता के लिए लड़ा जा रहा है, मगर स्वयं उसकी स्वतंत्रता उसे नहीं दी जा रही है और जो कुछ सीमित स्वतंत्रता उसे प्राप्त थी वह भी उससे छीन ली गई है।"

कांग्रेस की माँग थी कि भारत में केंद्रीय विधानसभा के प्रति उत्तरदायी एक भारतीय सरकार स्थापित की जाए और यह वचन दिया जाए कि युद्ध के समाप्त होते ही भारत को स्वाधीन कर दिया जाएगा परंतु ब्रिटिश सरकार ने यह बात तक नहीं मानी। नवंबर 1939 में कांग्रेस के प्रांतीय मंत्रिमंडलों ने इस्तीफा दे दिया, क्योंकि तब तक यह स्पष्ट हो चुका था कि ब्रिटेन अपने खुद के साम्राज्यवादी हितों के लिए यह युद्ध लड़ रहा था। कांग्रेस द्वारा 1940 में की गई ऐसी ही एक और पेशकश भी सरकार द्वारा ठुकरा दी गई।

अक्तूबर 1940 में गाँधीजी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह का आरंभ किया। चुने हुए सत्याग्रही सार्वजनिक स्थानों पर युद्ध विरोधी भाषण देकर कानून तोड़ते और खुद को गिरफ़्तार करवाते। सत्याग्रह के लिए पहले व्यक्ति के रूप में विनोबा भावे को चुना गया परंतु व्यक्तिगत सत्याग्रह जल्द ही एक राष्ट्रव्यापी आंदोलन बन गया। छ: महीनों के अंदर लगभग 25,000 व्यक्ति जेल जा चुके थे।

यह आंदोलन अभी चल रहा था कि जर्मनी ने सोवियत

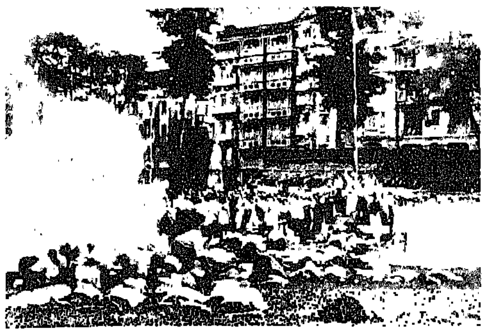


बंबई में 7 अगस्त, 1942 में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में गाँधीजी और जवाहरलाल नेहरू। इसी बैठक में 8 अगस्त, 1942 को ऐतिहासिक भारत छोड़ो आंदोलन का प्रस्ताव पारित हुआ था।

संघ पर हमला कर दिया। जापान ने भी पर्ल हार्बर स्थित अमरीकी नौसैनिक अड्डे पर हमला किया और दक्षिण-पूर्व एशिया में आगे बढ़ने लगा। इन घटनाओं के कारण युद्ध फैलकर एक विश्वयुद्ध बन गया। अमरीका, सोवियत संघ और ब्रिटेन समेत मित्र-राष्ट्रों ने जनवरी 1942 में संयुक्त राष्ट्र घोषणा-पत्र जारी किया था। संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्य-देशों ने 1941 में अमरीका और ब्रिटेन द्वारा जारी अटलांटिक चार्टर से अपनी सहमति व्यक्त की। इस चार्टर में कहा गया था कि वे (अर्थात संयुक्त राष्ट्र के देश) "समस्त देशों की जनता के इस अधिकार का सम्मान करते हैं कि उन्हें अपने-अपने देशों की शासन-प्रणाली का निर्णय करने का पूर्ण अधिकार है। जिन देशों को अपनी प्रभुसत्ता और स्वशासन के अधिकार से जबर्दस्ती वंचित कर दिया गया है, उन्हें इन अधिकारों को वापस मिलते देखने की ये संयुक्त राष्ट्र कामना करते हैं।" मगर ब्रिटेन के प्रधान मंत्री विंस्टन चर्चिल ने घोषणा की कि यह चार्टर भारत पर लागू नहीं होता, बल्कि उन यूरोपीय देशों के लिए हैं जिन पर जर्मनी ने कब्ज़ा कर लिया है।

तत्कालीन कांग्रेस-अध्यक्ष अबुल कलाम आजाद और जवाहरलाल नेहरू समेत सभी राष्ट्रीय नेता फ़ासीवाद के विरोधी थे और उन्होंनें इसे सभी देशों की जनता की स्वतंत्रता का शत्रु बतलाकर इसकी निंदा की थी। उन्होंने फ़ासीवादी आक्रमण के शिकार देशों के प्रति सहानुभूति और समर्थन व्यक्त किया। भारत के राष्ट्रीय आंदोलन ने प्रण किया कि वह संयुक्त राष्ट्रों के साथ मिलकर फ़ासीवाद का मुकाबला करेगा। पर यह तभी संभव था जबकि भारत की सरकार भारतीय जनता के हाथों में हो। फ़ासीवाद-विरोधी अनेक देशों ने ब्रिटिश सरकार पर दबाव डाला कि वह भारतीय जनता की माँगें मान ले।

मार्च 1942 में सर स्टैफोर्ड क्रिप्स भारतीय नेताओं से



बंबई में 9 अगस्त, 1942 को प्रदर्शनकारियों पर आँसू गैस छोड़ने का एक दृश्य

बातचीत के लिए भारत आए परंतु यह वार्ता भंग हो गई। क्योंकि अंग्रेज़ सरकार युद्ध के बाद भी भारत को पूर्ण स्वाधीनता का वचन देने के लिए तैयार न थी और उसने कांग्रेस के इस प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया कि युद्ध के दौरान एक राष्ट्रीय सरकार बनाई जाए।

क्रिप्स के साथ वार्ता भंग हो जाने पर कांग्रेस ने सरकार के ख़िलाफ़ एक तीसरा जन-आंदोलन छेड़ने की तैयारियाँ आरंभ कर दीं। (पहला आंदोलन असहयोग आंदोलन और दूसरा सविनय अवज्ञा आंदोलन था।) अगस्त 1942 में गाँधीजी ने "भारत छोड़ो" का नारा दिया। 8 अगस्त, 1942 को कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पारित करके माँग की कि भारत के लिए और संयुक्त राष्ट्र की कामयाबी के लिए तात्कालिक आवश्यकता इस बात की है कि "भारत में ब्रिटिश शासन फौरन समाप्त हो" और "स्वाधीनता के अहस्तांतरणीय अधिकार को पुनर्घोषित करने के लिए" कांग्रेस ने जितने बड़े पैमाने पर संभव हो, सविनय अवज्ञा आंदोलन चलाने का फैसला किया। जिस दिन वह प्रस्ताव पारित हुआ, उसके अगले दिन कांग्रेस को प्रतिबंधित कर दिया गया और सभी बड़े नेता गिरफ़्तार कर लिए गए।

राष्ट्रीय नेताओं की गिरफ़्तारी से जनता में गुस्से की लहर दौड़ गई। "भारत छोड़ो" का नारा पूरे देश में गूँज उठा। अनेक स्थानों पर स्वत: स्फूर्त प्रदर्शन हुए और विदेशी शासन को नष्ट करने के लिए लोग हिंसा का सहारा लेने लगे। सरकार ने आंदोलन को कुचलने के लिए पुलिस और सेना का सहारा लिया। सैकड़ों लोग मारे गए। पाँच माह से भी कम समय में 70,000 से अधिक लोग गिरफ़्तार कर लिए गए परंतु सरकार की निर्ममता के बावजूद द्वितीय विश्वयुद्ध के पूरे काल में संघर्ष जारी रहा।

1941 में सुभाषचंद्र बोस भारत से फरार होकर जर्मनी पहुँच गए थे। उन्होंने वहाँ से भारत की स्वाधीनता के लिए काम किया और भारत की जनता के नाम रेडियो पर संदेश भेजे कि वह ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंके। जुलाई 1943 में वे सिंगापुर पहुँच गए। भारत से 1915 में फरार होकर जापान चले जाने वाले क्रांतिकारी नेता रासबिहारी बोस ने जापान में इंडियन इंडिपेंडेंट्स लीग की स्थापना की थी। दक्षिण-पूर्व एशिया में ब्रिटेन को हराकर जापानियों ने जिन भारतीय सैनिकों को युद्धबंदी बना लिया था, उन्हें लेकर आज़ाद हिंद फौज बनाई गई। सुभाषचंद्र बोस ने इंडियन इंडिपेंडेंट्स लीग का नेतृत्व सँभाला और भारत को ब्रिटिश शासन से मुक्त कराने के लिए आज़ाद हिंद फौज को पुनर्गठित किया। 21 अक्तूबर, 1943 को उन्होंने स्वतंत्र भारत की अस्थायी सरकार की घोषणा की। 1944 में आजाद हिंद फौज की तीन इकाइयाँ जापानी सेनाओं के साथ पूर्वोत्तर भारत के इम्फाल-कोहिमा क्षेत्र में घुस आईं। मगर फिर उन्हें पीछे हटना पड़ा। हालाँकि आज़ाद हिंद फौज का भारत को स्वतंत्र कराने का उद्देश्य कामयाब न हो सका, फिर भी सुभाषचंद्र बोस और आज़ाद हिंद फौज की गतिविधियों ने देश में साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष को और मज़बूत किया। यह बात याद रहे कि जर्मनी और जापान, दोनों ही फ़ासीवादी देश थे, जो दुनिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते थे। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने कभी उनको अपने स्वतंत्रता संघर्ष का मित्र नहीं माना था और उसकी हमदर्दी आरंभ से ही यूरोप में जर्मनी और एशिया में जापान के हमलों के शिकार देशों के साथ रही थी।

पाकिस्तान बनाने की माँग

आप यह पढ़ चुके हैं कि भारत में कुछ सांप्रदायिक राजनीतिक दल स्थापित हो चुके थे। इन दलों का संगठन धर्म के आधार पर किया गया था। ये दल अपने-अपने संप्रदायों के हितों की रक्षा करने का दावा करते थे। आप

यह भी पढ़ चुके हैं कि ये सांप्रदायिक दल वास्तव में ब्रिटिश शासकों के हाथ की कठपुतली बन गए थे और स्वतंत्रता आंदोलन में बाधा डाल रहे थे। जिस समय राष्ट्रीय आंदोलन जोरों पर था, इन दलों को जनता का समर्थन प्राप्त न हुआ और इनका अस्तित्व प्राय: समाप्त-सा हो गया। सन 1937 के चुनावों में मुस्लिम लीग की बहुत बुरी तरह से हार हुई। हिंदू सांप्रदायिक संस्थाओं की भी यही दशा हुई। किंतु थोड़े दिन पश्चात् सांप्रदायिकता की भावना फिर उभर पड़ी। इस समय इसका स्वरूप पहले की अपेक्षा अधिक घिनौना था और इसका भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ा।

सांप्रदायिक संस्थाओं ने अब भारत में दो राष्ट्रों के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इस सिद्धांत के अनुसार जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग ने दावा किया कि भारत के अंदर दो राष्ट्र हैं – एक हिंदू राष्ट्र और दूसरा मुस्लिम राष्ट्र। इस सिद्धांत का आश्रय लेकर जिस राजनीति का अनुसरण किया गया उसके कारण अनेक दु:खद घटनाएँ हुईं और अंत में देश का बँटवारा हुआ।

भारतीय जनता का पूरा इतिहास इस बात का साक्षी है कि यह दो राष्ट्र का सिद्धांत सर्वथा असत्य है। मध्य-युग में हिंदुओं और मुसलमानों ने मिलकर एक सामान्य संस्कृति का विकास किया था और वे एकजन हो गए थे। उन्नीसवीं सदी में सन् 1857 के विद्रोह से पहले, विद्रोह के समय और विद्रोह के पश्चात् भी वे विदेशी शासन से मुक्त होने के लिए एक इकाई के रूप में संघर्ष कर रहे थे। बीसवीं सदी में राष्ट्रीय आंदोलन में जनसाधारण ने भाग लिया। हिंदुओं और मुसलमानों आदि सभी संप्रदायों के व्यक्तियों ने एक इकाई के रूप में अनेक कष्ट सहे। राष्ट्रीय आंदोलन सारे भारतीय राष्ट्र का संघर्ष था, जिसमें भारत में रहने वाली सभी जातियों ने भाग लिया। इन दो राष्ट्रों के सिद्धांत ने अब भारतीय राष्ट्रीयता की आधारशिला पर ही कुठाराघात किया था। हिंदू सांप्रदायिक नेताओं ने भी इस सिद्धांत की वकालत की कि हिंदू ही भारत का राष्ट्र है।

सन् 1940 में मुस्लिम लीग के लाहौर अधिवेशन में पाकिस्तान का अलग राज्य बनाने की माँग की गई थी। यह माँग दो राष्ट्रों के सिद्धांत पर आधारित थी। मुस्लिम लीग ने माँग की कि जिन क्षेत्रों में मुस्लिम जनसंख्या हिंदुओं से अधिक है, जैसे कि उत्तर-पश्चिमी भारत में और पूर्वी भारत में, उन्हें मिलाकर स्वतंत्र राज्य बनाया जाए, जो पूर्णतया स्वाधीन और प्रभुसत्ता संपन्न हो।

अधिकांश मुसलमानों ने अलग राज्य बनाए जाने की माँग का विरोध किया। मौलाना अबुल कलाम आज़ाद जैसे अनेक राष्ट्रीय नेता थे, जिन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन में प्रमुख भाग लिया था। उन्होंने अलग राज्य बनाए जाने की माँग का दृढ़ता से विरोध किया। उन्होंने कहा कि यह माँग राष्ट्रीयता की भावना के विरुद्ध है और मुसलमानों और भारत की समस्त जनता के हित में नहीं है। मुसलमानों के कई संगठन थे, जिन्होंने अलग राज्य बनाने की माँग का विरोध किया और इन सांप्रदायिक प्रवृत्तियों के विरुद्ध और भारतीय जनता की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया। इनमें सबसे प्रमुख खुदाई खिदमतगार थे इनके कर्मठ नेता ख़ान अब्दुल गफ़्फ़ार ख़ाँ। वे सरहदी (सीमांत) गाँधी के नाम से प्रसिद्ध थे। इसी प्रकार के अन्य दल ब्लूचिस्तान की "वतन पार्टी", ऑल इंडिया मोमिन कांफ्रेंस, अहरार पार्टी, ऑल इंडिया शिया पोलिटिकल कांफ्रेंस और आजाद मुस्लिम कांफ्रेंस थे। इन संगठनों और कांग्रेस ने असंख्य भारतीय मुसलमानों का राष्ट्रीय स्वतंत्रता के संघर्ष में नेतृत्व किया।

ब्रिटिश सरकार ने मुस्लिम लीग को प्रोत्साहित किया कि वह एक अलग राज्य की माँग के लिए जोर डाले। लीग भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हाथों में खेलती रही जिससे स्वाधीनता का आंदोलन कमजोर हुआ। ब्रिटिश सरकार के स्वाधीनता संबंधी दृष्टिकोण के विरोध में जब कांग्रेस ने प्रांतीय मंत्रिमंडलों से इस्तीफा दे दिया, तो लीग ने इस पर प्रसन्नता प्रकट करने के लिए मुक्ति दिवस मनाया और इन प्रांतों में से एक में भी बहुमत न होते हुए भी उसने वहाँ मंत्रिमंडल बनाने की कोशिश की।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्रीय उभार

संयुक्त राष्ट्र के देशों ने स्वाधीनता और लोकतंत्र के नाम पर द्वितीय विश्वयुद्ध को लड़ा था। फ़ासीवाद विरोधी इस युद्ध ने करोड़ों लोगों की अंतरात्मा को झकझोरा था। युद्ध के बाद उपनिवेशों की जनता की स्वाधीनता की माँग अब एक तूफानी लहर बनकर उठी। एशिया और अफ्रीका के



बंबई में 1946 में नौसैनिकों के विद्रोह के समय का दृश्य

जनगण स्वाधीनता के संघर्ष में बबर शेर की तरह आगे बढ़े। तब तक विश्व का राजनीतिक वातावरण बदल चुका था। इस साम्राज्यवाद विरोधी विश्वव्यापी संघर्ष में भारतीय जनता का संघर्ष एक प्रेरणाप्रद उदाहरण बनकर उभरा।

युद्ध के कारण दुनिया का समूचा नक्शा बदल गया था। ब्रिटेन, फ्रांस, हालैंड आदि पुराने साम्राज्यवादी देश युद्ध के कारण कमजोर हो गए थे। अब उनमें इतनी शक्ति नहीं रह गई थी कि राष्ट्रीय आंदोलनों की बढ़त को रोक लेते। ब्रिटेन अब एक विश्वशक्ति नहीं रह गया था, जो वह सदियों तक रहा था और उसकी श्रेष्ठता हमेशा के लिए चली गई थी। युद्ध में सबसे अधिक नुकसान सोवियत संघ का हुआ था, पर फिर भी वह और भी ताकतवर बनकर उभरा। जर्मनी द्वारा कब्ज़ा किए गए अनेक यूरोपीय देश हिटलरी जर्मनी की हार के बाद समाजवादी हो गए। ये देश साम्राज्यवाद के दुश्मन थे। इस तरह युद्ध में फ़ासीवाद तो नष्ट हो ही गया, साम्राज्यवादी देशों को भी भारी धक्के लगे थे।

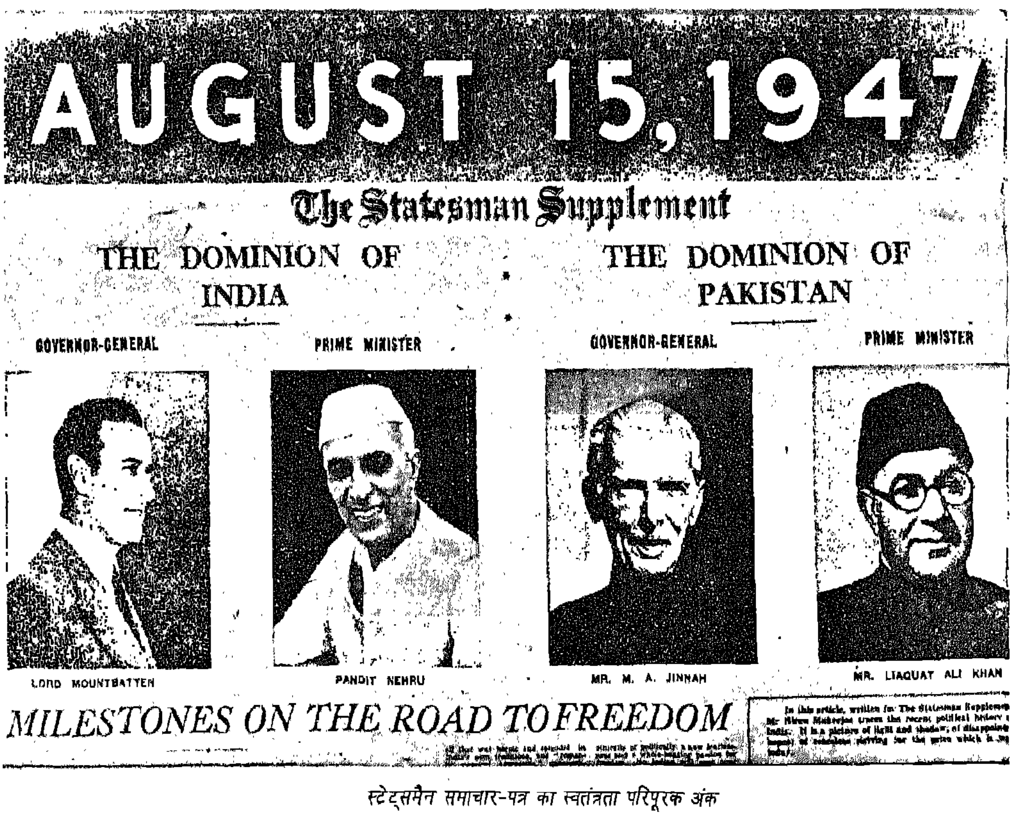
खुद ब्रिटेन में कंजर्वेटिव पार्टी चुनावों में बुरी तरह हार गई जो भारत की स्वाधीनता का विरोध करती आई थी। युद्ध-काल में प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल ने कहा था कि वे इसलिए प्रधानमंत्री नहीं है कि ब्रिटिश साम्राज्य का विघटन होते हुए देखें। पर अब वे प्रधानमंत्री नहीं रहे। एटली के नेतृत्व में सत्ता में आने वाली लेबर पार्टी में ऐसे अनेक लोग थे जो भारत में ब्रिटिश शासन के जारी रहने के विरोधी थे। भारत में साम्राज्यवाद के खात्मे के लिए परिस्थितियाँ तैयार थीं। इस समय भारत में ब्रिटिश शासन विरोधी रोष चरम सीमा पर था। युद्ध में भारतियों को भारी नुकसान उठाना पड़ा था। 1943 में बंगाल में भयानक अकाल पड़ा था और उसमें तीस लाख लोगों की जानें गई थीं, पर ब्रिटिश सरकार अकाल पीड़ितों की दशा के प्रति उदासीन रही थी। युद्ध के बाद अंदर दबा हुआ यह सारा गुस्सा विदेशी शासन को आखिरी धक्का देने के लिए फूट पड़ा।

नवंबर 1945 में दिल्ली के लालकिले में आजाद हिंद फौज के तीन अधिकारियों पर मुकदमा चलाया गया था। उन पर सम्राट अर्थात ब्रिटिश साम्राज्य के ख़िलाफ़ षड्यंत्र के अपराध में यह मुकदमा चलाया गया था। राष्ट्रीय नेताओं

ने उनके बचाव में वकालत की पर उन्हें आजीवन कारावास का दंड सुनाया गया। ये सजाएँ (जो बाद में रद्द कर दी गईं थीं) पूरे देश में एक व्यापक जन-उभार का कारण बन गईं। सेना भी इससे प्रभावित हुई। भारतीय नौसेना के अनेक नाविकों ने विद्रोह कर दिया। पूरे देश में प्रदर्शनों, कामबंदियों और हड़तालों का ताँता बँध गया। ब्रिटिश सरकार ने अब यह स्पष्ट समझ लिया कि भारतीय जनता को अब और पराधीन रखना संभव नहीं था।

स्वतंत्रता की प्राप्ति 1947

फरवरी 1946 में ब्रिटिश सरकार ने भारतीय नेताओं से बातचीत करने के लिए मंत्रिमंडल के सदस्यों का एक शिष्टमंडल (कैबिनेट मिशन) भारत भेजा। ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने घोषणा की कि उनकी सरकार भारत को स्वाधीनता देने की इच्छुक है। कैबिनेट मिशन ने प्रस्ताव रखा कि एक भारतीय संघ बनाया जाए जिसके प्रांतों को चार क्षेत्रों मे बाँट दिया जाए। प्रत्येक क्षेत्र का अपना संविधान हो और उसे विदेश नीति, प्रतिरक्षा और संचार को छोड़ शेष विषयों में स्वायत्तता प्राप्त हो। मिशन ने यह प्रस्ताव भी रखा कि एक संविधान सभा बनाई जाए, जिसके सदस्यों का चुनाव जनता द्वारा न हो बल्कि सांप्रदायिक चुनाव मंडलों के आधार पर प्रांतीय विधानमंडल उनका चुनाव करे। यह प्रस्ताव भी रखा गया कि भारतीय रजवाड़ों के प्रतिनिधि उनके शासकों द्वारा मनोनीत हों। संविधान सभा के बारे में मिशन के प्रस्ताव को कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया। कांग्रेस हालाँकि बालिग मताधिकार के आधार पर चुनी हुई एक संविधान सभा के लिए जोर देती आई थी, फिर भी स्वाधीनता की प्राप्ति में देर न होने देने के लिए उसने कैबिनेट मिशन के प्रस्ताव को स्वीकार कर



स्टेट्समैन समाचार-पत्र का स्वतंत्रता परिपूरक अंक

लिया।

जुलाई में संविधान सभा के चुनाव पूरे हुए। इनमें 210 सामान्य सीटों में से 201 कांग्रेस को मिलीं और मुसलमानों के लिए आरक्षित 78 सीटों में से 73 मुस्लिम लीग को मिलीं। मुस्लिम लीग ने संविधान सभा का बहिष्कार कर दिया और पाकिस्तान नाम से एक अलग राज्य की माँग के लिए जोर देती रही। इस बीच रज़वाड़ों की जनता ने संगठित भारत में रज़वाड़ों के विलय के लिए जोर डाला। 2 सितंबर, 1946 को जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस ने अंतरिम सरकार बनाई। बाद में मुस्लिम लीग भी इस अंतरिम सरकार में शामिल हुई।

24 मार्च, 1947 को लार्ड माउंटबेटन भारत के वायसराय नियुक्त किए गए और ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि वह अधिक-से-अधिक जून 1948 तक भारतियों को सत्ता सौंप देगी।

3 जून, 1947 को लार्ड माउंटबेटन ने प्रस्ताव रखा कि भारत को दो भागों में विभाजित करके भारतीय संघ और पाकिस्तान नामक अलग-अलग राज्य बनाए जाएँ। भारतीय रज़वाड़ों को अपना-अपना भविष्य स्वयं तय करने का अधिकार दे दिया गया। इस तरह देश का विभाजन हो गया और सत्ता भारत और पाकिस्तान को दे दी गई। पाकिस्तान में पश्चिमी पंजाब, पूर्वी बंगाल, सिंध और पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत शामिल थे।

15 अगस्त, 1947 को भारत स्वाधीन हो गया। मगर दुर्भाग्य से भारतीय जनता के शानदार स्वाधीनता संघर्ष की विजय से पहले और उसके बाद दिल दहला देने वाली घटनाएँ हुईं। लाखों लोग बेघर हो गए और सांप्रदायिक दंगों से लाखों ही मारे गए। गाँधीजी तब दंगा पीड़ित इलाकों का दौरा करके जनता को तसल्ली और धीरज बँधा रहे थे। भारत की स्वाधीनता के दिन वे कलकत्ता में थे जहाँ भयानक सांप्रदायिक दंगे हुए थे। सांप्रदायिक हिंसा बंद हो जाने के बाद ही वे दिल्ली लौटे। 30 जनवरी, 1948 को एक हिंदू कट्टरपंथी ने गोली मारकर उनकी हत्या कर दी।

नए भारत का निर्माण

संविधान सभा ने स्वाधीन भारत के लिए एक संविधान तैयार करने की जिम्मेदारी सँभाली। 9 दिसंबर, 1946 को उसकी पहली मीटिंग हुई। डॉ. भीमराव अंबेडकर की अध्यक्षता में प्रारूप समिति (ड्राफ्टिंग कमेटी) ने अपना काम 26 नवंबर, 1949 को पूरा किया। भारत का नया संविधान 26 जनवरी, 1950 को लागू किया गया और भारत को एक गणराज्य घोषित कर दिया गया। हर वर्ष हम 15 अगस्त को स्वाधीनता दिवस और 26 जनवरी को गणतंत्र दिवस मनाते हैं।

13 दिसंबर, 1946 को जवाहरलाल नेहरू ने संविधान सभा में उद्देश्यों संबंधी प्रस्ताव रखा जिसमें उन्होंने संविधान सभा की जिम्मेदारियों को स्पष्ट किया। नेहरू द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव के अनुसार सभा ने भारत को एक स्वाधीन प्रभुतासंपन्न गणतंत्र बनाने की दृढ़ इच्छा व्यक्त की। इस गणतंत्र में ब्रिटिश भारत और भारतीय रज़वाड़ों के अलावा उन सभी क्षेत्रों को शामिल किया जाना था जो स्वाधीन प्रभुतासंपन्न भारत में शामिल होने की इच्छा व्यक्त करें। सभा ने यह घोषणा भी की कि स्वाधीन प्रभुतासंपन्न भारत में सभी व्यक्तियों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, पद और अवसर की तथा कानून के सामने समानता, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास और मत, पूजा, व्यवसाय, संगठन और कार्य की स्वतंत्रता उपलब्ध कराई जाएगी।

यही संविधान सभा स्वतंत्र भारत की संसद भी थी। 14 अगस्त, 1947 को उसे संबोधित करते हुए प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने ये स्मरणीय शब्द कहे थे – "बहुत वर्ष पहले हमने अपने भाग्य के विषय में निश्चय किया था और अब समय आ गया है कि पूर्णतया नहीं तो बहुत अंश में हम अपना वचन पूरा करें। आधी रात का घंटा बजने के साथ, जबकि पूरा विश्व सो रहा होगा, भारत जीवन और स्वाधीनता के लिए जाग्रत होगा। इतिहास में बहुत कम ऐसे क्षण आते हैं जब पुराने से नए की ओर संक्रमण होता है, जब एक युग का अंत होता है और लंबे समय से किसी राष्ट्र की दबी हुई आत्मा मुखर हो उठती है। उचित यही होगा कि हम इस पवित्र क्षण में भारत और उसकी जनता की सेवा के लिए तथा उससे भी व्यापकतर मानवता की सेवा के लक्ष्यों के प्रति समर्पित होने का संकल्प करें।" उन्होंने उस भविष्य की ओर भी संकेत किया जो "हमें अपनी ओर बुला रहा है।"

"वह भविष्य हमारे लिए सुख और आराम का काल



भारतीय स्वतंत्रता की पूर्व-संध्या पर संविधान सभा के समक्ष अपना प्रसिद्ध व्याख्यान "ट्रिस्ट विद डेस्टिनी" प्रस्तुत करते हुए जवाहरलाल नेहरू

नहीं, बल्कि हमें लगातार अथक प्रयत्न करना होगा—उन संकल्पों को पूरा करने के लिए जो हमने पहले किए हैं और जिन्हें हम आज फिर दोहराएँगे भारत की सेवा का अर्थ है, कष्टों से पीड़ित करोड़ों-करोड़ जनता की सेवा करना। इसका अर्थ है—निर्धनता, अज्ञान, रोग और अवसर की असमानता को समाप्त करना। हमारी पीढ़ी के सबसे महान व्यक्ति की आकांक्षा थी कि प्रत्येक आँख के आँसू पोंछे जाएँ। संभव है यह लक्ष्य हमसे बहुत दूर हो पर जब तक ये आँसू और ये कष्ट विद्यमान हैं, हमारा काम समाप्त नहीं होगा।'' "इसलिए अपने स्वप्नों को साकार करने के लिए हमें कड़ा श्रम करना होगा। ये स्वप्न भारत के लिए और पूरी दुनिया के लिए हैं, क्योंकि आज सारे ही राष्ट्र और जनगण इतनी घनिष्ठता के साथ एक-दूसरे से जुड़े हैं कि दूसरों से अलग रहकर जीवित नहीं रह सकते। शांति को अविभाज्य कहा जाता है। इसी तरह स्वाधीनता, समृद्धि और दुख भी अविभाज्य है, क्योंकि विश्व एक है और कोई भी इनको अकेले नहीं भोग सकता। कारण कि विश्व को अब अलग-अलग टुकड़ों में नहीं बाँटा जा सकता।" से अपील की कि वह " इस महान अभियान में हममें आस्था और विश्वास रखकर हमारा साथ दे। यह तुच्छ और विनाशकारी आलोचना का समय नहीं है, दुर्भावना पालने और दूसरों को दोष देने का समय नहीं है। हमें स्वतंत्र भारत का ऐसा श्रेष्ठ महल बनाना है जहाँ उसके सारे बच्चे सुख से रह सकें।''

इस तरह " स्वतंत्र भारत के श्रेष्ठ महल'' का निर्माण-कार्य आरंभ हुआ। सबसे पहला काम था – देश के एकीकरण की प्रक्रिया को पूरा करना। रज़वाड़ों के अनेक शासक अपने स्वतंत्र राज्य कायम करने के सपने देख रहे थे मगर रज़वाड़ों की जनता के आंदोलन और गृहमंत्री सरदार पटेल की बुद्धिमता के कारण वे सभी भारतीय संघ में शामिल होने के लिए तैयार हो गए। जूनागढ़ का नवाब भागकर पाकिस्तान चला गया था, मगर वहाँ की जनता ने फरवरी 1948 में भारत में विलय के लिए मतदान किया। जम्मू और कश्मीर की जनता निरंकुश राजा के ख़िलाफ़ आंदोलन चला रही थी जो राष्ट्रीय आंदोलन का एक अंग था। जब उस राज्य पर पकिस्तानी घुसपैठियों ने हमला किया तो वहाँ के राजा तथा कश्मीर के जन-संघर्ष का नेतृत्व करने वाले नेशनल कांफ्रेंस के नेता शेख अब्दुल्ला ने 26 अक्तूबर, 1947 को भारत से प्रार्थना की कि वह भारत में राज्य के विलय को स्वीकार करें। हैदराबाद का भारत में औपचारिक विलय नवंबर 1949 में हुआ। 1949 के अंत तक भारतीय रज़वाड़ों का भारत में विलय पूरा हो चुका था और उन्हें संघ के विभिन्न राज्यों का अंग बनाया जा चुका था।

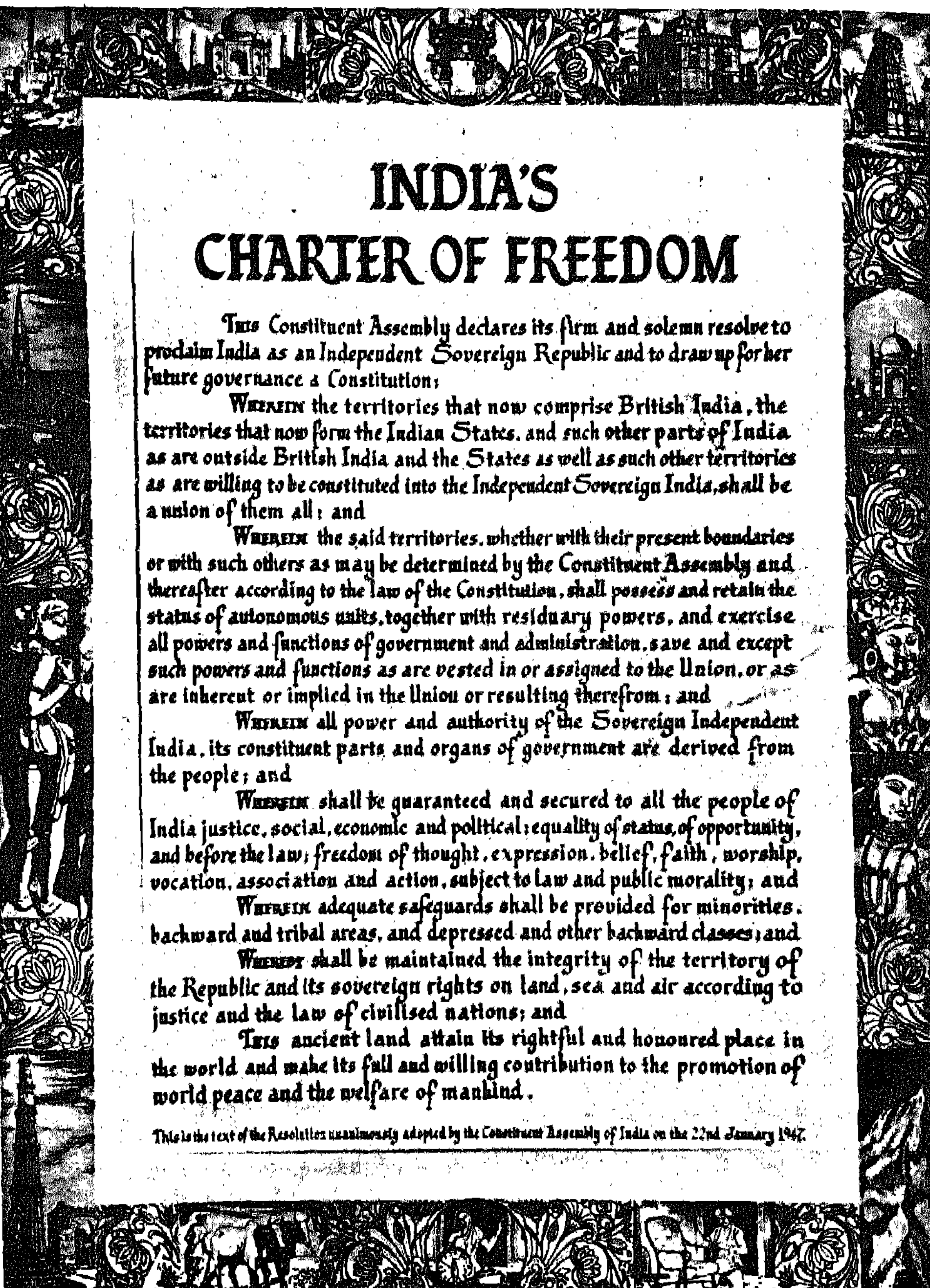
अब कुछ ही भारतीय क्षेत्र ऐसे थे जो औपनिवेशिक शासन में थे। ये थे – फ्रांस के अधीन पांडिचेरी, कराइकल, यनाम, माहे और चंद्रनगर, और पुर्तगाल के अधीन दादरा और नागर हवेली, गोवा, दमन और दीव। 1954 तक फ्रांस के अधिकार-क्षेत्र भारत में शामिल हो चुके थे। 1961 में गोवा की मुक्ति के साथ पुर्तगाल के अधिकार-क्षेत्र भी भारत में शामिल हो गए और इसी के साथ औपनिवेशिक शासन से पूरे भारत की मुक्ति की प्रक्रिया पूरी हो गई।

स्वाधीनता के साथ भारतीय जनता के इतिहास का एक नया युग आरंभ हुआ तथा नए और समृद्ध भारत के निर्माण का कार्य तेजी से आरंभ हुआ जो आज तक जारी है।

भारत का राष्ट्रीय संघर्ष एक गौरवशाली संघर्ष रहा है। इस संघर्ष के रूप में भारत की जनता ने विश्व की सबसे बड़ी ताकत को चुनौती दी और उससे अपने को स्वाधीन करा लिया। यह संघर्ष विभिन्न धर्मों, क्षेत्रों और भाषाओं के करोड़ों नर-नारियों को एक दूसरे के करीब ले आया। भारत की जनता के बीच जैसी एकता इस संघर्ष ने पैदा की वैसी कभी नहीं हुई थी। विभिन्न धर्मों, जातियों और पंथों की जनता की एकता इसका पहला परिणाम थी। साम्राज्यवाद की शह पाने वाली फूटपरस्त, सांप्रदायिक ताकतों को शिकस्त मिली और भारतीय जनता ने विदेशी शासन का जुआ उतार फेंका। यह एकता संघर्ष की सफलता के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता थी। महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल और मौलाना आजाद जैसे महान नेताओं के नेतृत्व में यह एकता स्थापित हुई थी। निर्मम दमन के आगे सीना तानकर खड़े होने का जो साहस भारतीय जनता ने दिखाया और फूटपरस्त ताकतों को अँगूठा दिखाकर जो एकता उसने स्थापित की, वह हमारी सबसे प्यारी विरासत है।

संघर्ष की कुछ और विशेषताएँ इस विरासत को और भी शानदार बनाती हैं। कुल मिलाकर यह एक शांतिपूर्ण और अहिंसक संघर्ष रहा था। दूसरों की स्वाधीनता के प्रति उदासीन रहकर या उसका विरोध करके कोई भी देश या जनगण अपनी स्वाधीनता की लड़ाई नहीं चला सकता या उस स्वाधीनता को सुरक्षित नहीं रख सकता। जिस तरह स्वतंत्रता-प्रेमी जनगणों ने हमारे संघर्ष का समर्थन किया, उसी तरह हमने भी हर देश की स्वाधीनता के उद्देश्य का समर्थन किया। चाहे विदेशी साम्राज्यवाद से अपनी मुक्ति के लिए एशिया और अफ्रीका के जनगण रहे हों या वे यूरोपीय देश रहे हों, जिनकी स्वतंत्रता फ़ासीवाद के उदय के कारण खतरे में पड़ गई थी, हमने हर देश की स्वाधीनता के लक्ष्य को अपना लक्ष्य समझा। स्वाधीनता के लिए संघर्ष कर रहे सभी जनगणों के साथ मित्रता हमारी स्वतंत्रता के पहले से ही हमारी विदेश नीति का एक विशिष्ट तत्व रही है और आज तक है।

लोकतंत्र और समानता के आधार पर समाज का पुनर्निर्माण करने का लक्ष्य राष्ट्रीय आंदोलन की एक और विशेषता रही है। भारतीय जनता ने इस बात को अच्छी तरह समझा कि साम्राज्यवाद के जुए को उतारकर फेंके बिना पिछड़ी हुई समाज-व्यवस्था को नष्ट नहीं किया जा सकता और न ही जनता की आकांक्षाओं . के अनुरूप नई समाज-व्यवस्था का निर्माण संभव है। इस तरह विदेशी



INDIA'S CHARTER OF FREEDOM

This Constituent Assembly declares its firm and solemn resolve to proclaim India as an Independent Sovereign Republic and to draw up for her future governance a Constitution;

Wherein the territories that now comprise British India, the territories that now form the Indian States, and such other parts of India as are outside British India and the States as well as such other territories as are willing to be constituted into the Independent Sovereign India, shall be a union of them all; and

Wherein the said territories, whether with their present boundaries or with such others as may be determined by the Constituent Assembly and thereafter according to the law of the Constitution, shall possess and retain the status of autonomous units, together with residuary powers, and exercise all powers and functions of government and administration, save and except such powers and functions as are vested in or assigned to the Union, or as are inherent or implied in the Union or resulting therefrom; and

Wherein all power and authority of the Sovereign Independent India, its constituent parts and organs of government are derived from the people; and

Wherein shall be guaranteed and secured to all the people of India justice, social, economic and political; equality of status, of opportunity, and before the law; freedom of thought, expression, belief, faith, worship, vocation, association and action, subject to law and public morality; and

Wherein adequate safeguards shall be provided for minorities, backward and tribal areas, and depressed and other backward classes; and

Whereby shall be maintained the integrity of the territory of the Republic and its sovereign rights on land, sea and air according to justice and the law of civilised nations; and

This ancient land attain its rightful and honoured place in the world and make its full and willing contribution to the promotion of world peace and the welfare of mankind.

This is the text of the Resolution unanimously adopted by the Constituent Assembly of India on the 22nd January 1947.

संविधान सभा द्वारा 22 जनवरी, 1947 को अपनाया गया भारत का स्वतंत्रता घोषणा-पत्र

शासन को उखाड़ फेंकना भारत के सामाजिक-आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए आवश्यक था। हमारा राष्ट्रीय आंदोलन समाजवादी विचारों से बहुत प्रभावित रहा है। स्वाधीनता की प्राप्ति के साथ न्यायपूर्ण समाज-व्यवस्था के साथ एक नए और समृद्ध भारत के निर्माण का एक और भी बड़ा संघर्ष आरंभ हुआ।

अभ्यास

जानकारी के लिए

1. 1857 के विद्रोह के मूलभूत और तात्कालिक कारण क्या थे ? विद्रोह के प्रमुख केंद्र कौन-कौन से थे ? विद्रोह के कुछ महत्वपूर्ण नेताओं के नाम लिखिए।
2. 'नरमपंथियों' और 'गरमपंथियों' के बीच क्या अंतर थे ? 'गरमपंथी' 'नरमपंथियों' से अधिक लोकप्रिय क्यों हुए ?
3. ख़िलाफ़त और असहयोग आंदोलनों से क्या तात्पर्य है ? इन आंदोलनों के कुछ महत्वपूर्ण नेताओं के नाम बतलाइए।
4. स्वराज्य के नारे से क्या अभिप्राय था ? इस नारे से पूर्ण स्वराज्य का नारा किस तरह भिन्न था ? पूर्ण स्वराज्य के नारे को कब और कहाँ स्वीकार किया गया ?
5. देशी राज्यों की जनता का आंदोलन क्या था ? यह क्यों और कैसे राष्ट्रीय आंदोलन का अंग बना ?
6. द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रति कांग्रेस का क्या दृष्टिकोण था ?
7. मुस्लिम लीग की स्थापना कब हुई ? 1906 से 1940 तक के काल में मुस्लिम लीग की नीतियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए। मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की स्थापना की माँग कब उठाई ?
8. कैबिनेट मिशन के प्रस्ताव द्वितीय विश्वयुद्ध में ब्रिटिश सरकार द्वारा रखे गए प्रस्तावों से किस प्रकार भिन्न थे ? राष्ट्रीय आंदोलन ने उन्हें क्यों स्वीकार किया ?
9. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :
   बंगाल का विभाजन, 1916 का लखनऊ समझौता, साइमन कमीशन, 26 जनवरी 1930, गदर पार्टी, इंडिया लीग, लीग अगेंस्ट इम्पीरियलिज्म, आजाद हिंद फौज, मेरठ और लाहौर षड्यंत्र केस, सविनय अवज्ञा आंदोलन।

करने के लिए

1. जवाहरलाल नेहरू की पुस्तक 'मेरी कहानी' पढ़िए और एक ऐसा निबंध लिखिए, जिसमें निम्नलिखित के बारे में उनके विचार व्यक्त किए गए हों असहयोग आंदोलन, सांप्रदायिक पार्टियाँ, भारतीय रज़वाड़े, फ़ासीवाद, समाजवाद, ब्रिटिश साम्राज्यवाद का चरित्र, स्वतंत्र भारत की उनकी कल्पना।
2. 1858 से 1947 तक के काल में राष्ट्रीय आंदोलन का एक चार्ट बनाइए और उसमें इस आंदोलन के विभिन्न चरणों को दर्शाइए। चार्ट में संबंधित वर्ष, प्रमुख घटना या घटनाओं, उद्देश्यों, नीतियों और प्रमुख नेताओं

के नामों का उल्लेख होना चाहिए।

3. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रमुख प्रस्तावों (उदाहरण के लिए, पूर्ण स्वराज्य और 'भारत छोड़ो' संबंधी प्रस्तावों) को कागज पर लिखकर दीवारों पर उन्हें प्रदर्शित कीजिए।

विचार करने और वाद-विवाद के लिए

1. ' राष्ट्र' और ' राष्ट्रवाद' से आप क्या समझते हैं ? आपके विचार में भारत एक राष्ट्र कब बना ? तर्कों द्वारा अपने उत्तर की पुष्टि कीजिए।
2. कहा जाता है कि ब्रिटिश सरकार द्वारा समय-समय पर किए गए सांविधानिक सुधार बहुत मामूली और बहुत देर से किए गए सुधार थे। राष्ट्रीय आंदोलन का संदर्भ देते हुए निम्नलिखित सांविधानिक परिवर्तनों के प्रकाश में उपयुर्क्त वक्तव्य की विवेचना कीजिए — मार्ले-मिंटो सुधार, मांटगू-चेम्सफोर्ड सुधार और 1935 का भारत सरकार अधिनियम।
3. सांप्रदायिक पार्टियों के चरित्र और स्वाधीनता के संघर्ष में उनकी भूमिका की विवेचना कीजिए।
4. पहले एक अध्याय में आप क्रांतियों के बारे में जो कुछ पढ़ चुके हैं, उनके प्रकाश में आप क्या भारत के राष्ट्रीय आंदोलन को एक क्रांतिकारी आंदोलन मानते हैं ? राष्ट्रीय आंदोलन की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक नीतियों से संबधित तर्क देकर अपने उत्तर की पुष्टि कीजिए।
5. उन्नीसवीं सदी के विभिन्न सुधार-आंदोलनों के बारे में आप पिछले अध्याय में पढ़ चुके हैं। जहाँ तक भारतीय समाज के आधुनिकीकरण का सवाल है, क्या राष्ट्रीय आंदोलन इस सदी के इन सुधार-आंदोलनों के मुकाबले प्रगति का सूचक था ? अपने उत्तर की पुष्टि के लिए तर्क दीजिए।
6. दुनिया के दूसरे भागों में होने वाली घटनाओं, खासकर दूसरे देशों के राष्ट्रीय आंदोलनों और फ़ासीवाद के प्रति भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के दृष्टिकोण की विवेचना कीजिए।
7. राष्ट्रीय आंदोलन से हमें प्राप्त होने वाली विरासत के बारे में एक निबंध लिखिए।